ISSN 2229-6328

भाग - पञ्चत्रिंश, प्रथम-द्वितीय खण्ड

ॐ पावमानी

त्रैमासिक शोध पत्रिका



ऐतरेय ब्राह्मण में विविध विद्याएँ

ISSN 2229-6328

ओ३म्

प्रेरणास्रोत : प. पू. स्व. स्वामी समर्पणानन्द जी महाराज

पावमानी

त्रैमासिकी मूल्याङ्किता (Peer Reviewed) शोधपत्रिका

भागः पञ्चत्रिंश प्रथम एवं द्वितीय खण्ड, (वि. सं. २०७७)

ऐतरेय ब्राह्मण में विविध विद्याएँ

प्रकाशक

स्वामी समर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ- २५०५०१

जनवरी – जून २०२० **मूल्य २००.००**

एक प्रति का मूल्य	...	१०० रु०
वार्षिक सदस्यता शुल्क	...	४०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क	...	२००० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (छात्रों हेतु)	...	१५०० रु०
आजीवन सदस्यता शुल्क (संस्था हेतु)	...	५००० रु०
सहयोगी सदस्यता शुल्क	...	५५०० रु०
संरक्षक सदस्यता शुल्क	...	१०००० रु०
परामर्शक सदस्यता शुल्क	...	११००० रु०

आभार

पावमानी के इस अङ्क का सम्पूर्ण व्ययभार आश्रम के प्रति एकनिष्ठ स्व. माता प्रकाशवती जी की प्रेरणा से रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ, उ.प्र. ने वहन किया।

• स्वत्वाधिकारी, प्रकाशक, मुद्रक

स्वामीसमर्पणानन्द वैदिक शोध संस्थान

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, भोला, मेरठ - २५०५०१ (उ.प्र.)

दूरभाष : ८००६७०२५५१

अणुवाक्:

pavamani86@gmail.com

• **पावमानी**- ISSN२२२९-६३२८

भाग: पञ्चत्रिंश, प्रथम-द्वितीय खण्ड

जनवरी – जून २०२०

• प्राप्ति स्थान-

गुरुकुल प्रभात आश्रम, टीकरी, मेरठ

• मुद्रक

रस्तौगी प्रकाशन, मेरठ (उ.प्र.)

• प्रेरणास्रोत :

प.पू. स्व. श्री स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती

• प्रधान सम्पादक

स्वामी विवेकानन्द सरस्वती

• सम्पादक

प्रो. सोमदेव शतांशु

०९८३७६४७४२७

डॉ. वाचस्पति मिश्र

०९३१९००२४०२

• **कल्पादितः** १,९७,२९,४९१२२ गते

• **सृष्टि आदितः** १,९६,५८,८५१२२ गते

• **युगाब्द** ५१२२

• **दयानन्दाब्द** १९५

सम्पादकीयम्

त्रैमासिक शोधपत्रिका 'पावमानी' विगत अकों में यजुर्वेद के शतपथ आदि ब्राह्मणग्रन्थों में प्रतिपादित ज्ञानराशि में प्रवेश कर अपने पाठकों के समक्ष अनेक समाजोपयोगी लेख प्रस्तुत कर चुकी है तथा आगे भी चारों वेदों के ब्राह्मणग्रन्थों पर अनुसन्धानात्मक विचारों की प्रस्तुति हेतु कृतसंकल्प है। वैदिक वाङ्मय में ब्राह्मण साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान है। क्रम की दृष्टि से संहिताग्रन्थों के बाद ब्राह्मणग्रन्थों का ही स्थान आता है। इनकी महत्ता को इस बात से भी आँका जा सकता है कि सायणादि अनेक आचार्यों ने 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' कहकर इन्हें 'वेद' नाम भी दिया है। यद्यपि वेदों के अपौरुषेय होने से तथा ब्राह्मणग्रन्थों की रचना परवर्तीकाल में ऋषियों द्वारा किए जाने के कारण ब्राह्मणभाग को 'वेद' नहीं कहना चाहिए अन्यथा वेद का अपौरुषेयत्व लक्षण अव्याप्तिदोषग्रस्त हो जाएगा। महर्षि दयानन्द सरस्वती एवं उनके अनुयायी स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती आदि भी उपर्युक्त मत से असहमत दिखाई देते हैं। कतिपय विद्वान् ब्राह्मणग्रन्थों को वेदों का व्याख्यानग्रन्थ मानते हैं किन्तु यह कथन भी पूर्णतया यथार्थ नहीं है। क्योंकि वास्तव में ब्राह्मणग्रन्थ वेदमन्त्रों के, भिन्न भिन्न यज्ञक्रियाओं में विनियोग की व्याख्या करते हैं। यह बात अलग है कि इसी प्रसंग से इन ग्रन्थों में मन्त्रों की भी व्याख्या हो जाती है । अतः ब्राह्मणग्रन्थों का प्रमुख प्रतिपाद्यविषय, याग को ही माना जाता है।

पारम्परिक दृष्टि से ऐतरेयब्राह्मण का प्रवचनकर्ता ऋषि महिदास ऐतरेय को माना जाता है जो कि इतरा के पुत्र थे। ये ग्रन्थ वेदों की तुलना में पर्याप्त अर्वाचीन माने जाते हैं । सम्पूर्ण ग्रन्थ की रचना का भी, एक ही समय

निश्चित नहीं है। एक ही ग्रन्थ के कुछ अध्याय पर्याप्त प्राचीन एवं कुछ अध्याय पर्याप्त अर्वाचीन भी हो सकते हैं। ऐतरेयब्राह्मण भी इस बात का अपवाद नहीं है, किन्तु विद्वानों की मान्यता है कि यह ग्रन्थ पाणिनि के काल तक अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त कर चुका था। इस पर चार प्राचीन भाष्यों का अस्तित्व माना जाता है – गोविन्दस्वामी, भट्टभास्कर; षड्गुरुशिष्य, और सायणाचार्य के भाष्य। इनमें से भी अभी तक केवल अन्तिम दो का ही प्रकाशन हुआ है। ब्राह्मणग्रन्थों के अध्ययन में एक समस्या यह भी आती है कि इनके अनेक प्राचीन भाष्य उपलब्ध ही नहीं होते। और जो उपलब्ध होते हैं उनमें, उनके यागपरक अर्थ से कर्मकाण्डीय विधि एवं प्रतीकों का तो पता चल जाता है लेकिन प्रत्यायनीय अज्ञात ही रहता है। अतः अपने अपने ज्ञानक्षेत्र के धुरन्धर विद्वान् उपलब्ध भाष्य एवं व्याख्याओं की सहायता तथा अपने मौलिक चिन्तन, अनुसन्धान व वेदज्ञानविषयिकी ऊहा से ब्राह्मणग्रन्थों में निहित गूढज्ञान को अपने शोधलेखों के माध्यम से पावमानी के पाठकों के समक्ष लाने का प्रयास करते हैं।

ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक विषयों की दृष्टि से भी ऐतरेय ब्राह्मण अत्यन्त समृद्ध है। इसके अन्तिम तीन अध्यायों में परीक्षित पुत्र जनमेजय, मनु-पुत्र शर्यात, उग्रसेन-पुत्र युधा श्रौष्टि, अविक्षित-पुत्र मरुत्तम, सुदास पैजवन, शतानीक और दुष्यन्तपुत्र भरत का नामोल्लेख है। जिनके नाम पर हमारे देश का नाम भारत पड़ा। भरत के पराक्रम को यहाँ अद्वितीय बताते हुए कहा है -

महाकर्म भरतस्य न पूर्वे नापरे जनाः।
दिवं मर्त्य इव हस्ताभ्यां नोदापुः पञ्च मानवाः॥

(ऐ.ब्रा.८/४/९)

अनेक आख्यानों के साथ शुनःशेप का प्रसिद्ध आख्यान इसी ब्राह्मणग्रन्थ के ३३वें अध्याय में उपलब्ध होता है जिसके द्वारा ऋषि ने एक पिता की लोभमयी प्रवृत्ति एवं नरबलि जैसे घृणित कर्म की भर्त्सना तो की ही,

वेदमन्त्रों की शक्ति एवं सामर्थ्य का भी प्रतिपादन अर्थवाद के रूप में कर दिया है। यहाँ राजपुरोहित को आहवनीयाग्नितुल्य मानते हुए अत्यधिक महत्व दिया गया है। क्योंकि पुरोहित प्रजा का प्रतिनिधि है। वह राजा से प्रतिज्ञा कराता है कि वह अपनी प्रजा से कभी द्रोह नहीं करेगा। इससे राजतन्त्र में भी राजा के निरंकुश होने की सम्भावना प्रायः समाप्त हो जाती है। अन्य ब्राह्मणग्रन्थों की ही भाँति ऐतरेय ब्राह्मण भी नैतिकमूल्य एवं उदात्त आचार व्यवहार के सिद्धान्तों से परिपूर्ण है। सभी ब्राह्मणग्रन्थों में सत्य बोलने पर विशेष बल दिया गया है। ऐतरेय ब्राह्मण के तो प्रथम अध्याय में ही कह दिया गया है कि दीक्षित यजमान को सदा सत्य ही बोलना चाहिए '**ऋतं वाव दीक्षा सत्यं दीक्षा तस्माद् दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्**'। क्योंकि सत्य व्यक्ति की रक्षा करता है और असत्य उसकी मृत्यु का कारण बनता है '**अवत्येनं सत्यमनृतं हिनस्ति**'(४/१/१)। ब्राह्मणग्रन्थ वेदों के आदेशों को व्याख्यायित करने के साथ साथ विस्तार भी देते हैं। '**वाचं वदतु शान्ति वाम्**' एवं '**सम्यञ्चो सव्रताः भूत्वा वाचं वदत भद्रया**' आदि वेद की आज्ञाएँ जहाँ सभी को मधुर एवं भद्र वाणी बोलने के लिए प्रेरित करती हैं वहीं ऐतरेय ब्राह्मण कटु या अहंकार अथवा प्रमादवश प्रयुक्त वाणी को स्पष्ट शब्दों में राक्षसी वाणी कहता है – **यां वै दृप्तो वदति, यामुन्मत्तः सा वै राक्षसी वाक्** (२/१/७)। अतः स्त्री या पुरुष सभी को सदैव वाग्व्यवहार में अत्यन्त सावधानी बरतनी चाहिए। क्योंकि व्यक्तिगत, पारिवरिक या सामाजिक, अधिकांश कलहों का मूलकारण अनुचित वाग्व्यवहार ही होता है। कहा भी गया है –

शब्द सम्भल कर बोलिए शब्द के हाथ न पाँव।
एक शब्द औषधि बने एक करे उर घाव॥

इस ग्रन्थ में भाग्य को पुरुषार्थ का ही फल बताते हुए कहा गया है कि अकर्मण्य या निष्क्रिय रहने वाले व्यक्ति का भाग्य भी बैठ जाता है, सोते हुए का सो जाता है और चलते हुए का चलता रहता है। सतयुग, त्रेता, द्वापर, कलियुग इन चारों युगों को भी यहाँ व्यक्ति की क्रियाशीलता की ही स्थितियों

के रूप में चित्रित किया है कि मनुष्य की सुप्तावस्था कलियुग है, जब वह जँभाई लेता है तो द्वापर की स्थिति में होता है, खड़े होने पर त्रेता और कार्यरत होने पर सत्ययुग की अवस्था में आ जाता है –

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः।
उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन्॥

इसी प्रसंग में मनुष्यों को कर्मठ एवं निरन्तर क्रियाशील बनाने की प्रेरणा प्रदान करते हुए ऋषि प्रकृति के अद्भुत दृष्टान्त उपस्थित करते है कि यदि कोई निरन्तर कार्य करता रहता है तो वह (मधुमक्खी की भाँति निरन्तर छोटे छोटे पराग-कणों के संग्रह से) मधु (शहद) को प्राप्त कर लेता है, निरन्तर क्रियाशील रहने से स्वादिष्ट गूलर के फल को अर्थात् असम्भव प्रतीत होने वाले कर्मफल को भी प्राप्त कर लेता है। ऋषि द्वारा प्रदत्त दृष्टान्त का सौन्दर्य देखिए कि प्रकृति की गोद में रहते हुए अनेक स्वादिष्ट फलों को आहारूप में ग्रहण करने पर भी आम, अमरूद आदि की अपेक्षा यहाँ स्वादिष्ट गूलर की प्राप्ति परिश्रमसाध्य बताई है। क्योंकि गूलर एक ऐसा फल है जिसकी उत्पत्ति हमें बिना पुष्प के दिखाई देती है। जबकि प्रकृति का नियम है कि पहले कारण (पुष्प) तत्पश्चात् कार्य (फल) की उत्पत्ति होती है। बिना कारण के कार्य की उत्पत्ति असम्भव है लेकिन गूलर की उत्पत्ति में यह नियम प्रथमदृष्ट्या व्यतिक्रान्त होता दिखाई देता है और असम्भव कार्य भी सम्भव हुआ जान पड़ता है। जो थक कर, प्रमाद या आलस्य के वशीभूत होकर कार्यविरत होना चाहते हैं उनके लिए ऋषि सूर्य का दृष्टान्त उपस्थापित करते हुए कहते हैं कि सूर्य की श्रेष्ठता देखो वो निरन्तर गतिशील रहने पर भी कभी तन्द्राग्रस्त नहीं होता –

चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम्।
सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन्॥

इस प्रकार के अनेक रहस्यों एवं गूढ़ज्ञान से परिपूर्ण यह ऐतरेय ब्राह्मण लोगों को नैतिकमूल्यों एवं आचार की शिक्षा देते हुए अनेक पौराणिक

भ्रान्तियों के निवारण में भी समर्थ है। उदाहरणार्थ यहाँ कुल देवता ३३ माने गये हैं जिनमें अग्नि प्रथम देवता हैं और विष्णु परम देवता हैं। इन्हीं के मध्य सभी का समावेश हो जाता है – '**त्रयस्त्रिंशद्वै देवाः। अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुस्तदन्तरेण अन्याः सर्वाः देवताः**'। सम्भवतः पुराणों में इसी प्रकार के सूत्ररूप में उपलब्ध आख्यानों व वर्णनों का विस्तृत पल्लवन कर दिया गया है। अतएव पुराणों में विष्णु, हमें सर्वाधिक वैशिष्ट्यसम्पन्न देवता दिखाई देते हैं। पुराणों की काल्पनिकता से बाहर निकलने एवं उनके अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णनों को समझने हेतु ब्राह्मणग्रन्थों का अनुसन्धानात्मक अध्ययन आवश्यक ही नहीं, अपरिहार्य भी है। रहस्योद्घाटन की इस श्रृङ्खला में पावमानी का प्रस्तुत अंक ऋग्वेद के ऐतरेय ब्राह्मण को समर्पित है जिसका विषय है 'ऐतरेय ब्राह्मण में विविध विद्याएँ'। आशा है ऐतरेय ब्राह्मण के इस अंक को पढ़कर पाठकों की, ब्राह्मणग्रन्थों का स्वाध्याय करने की इच्छा और अधिक बलवती होगी और वे अपने प्राचीन ज्ञान विज्ञान की गौरवानुभूति कर सकेंगे।

इन्हीं कामनाओं के साथ -

प्रो. सोमदेव शतांशु

अनुक्रमणिका

- **शुनःशेप आख्यान एवं ऋषिचतुष्टय का प्रतीक**
  - डॉ० पंकज कुमार मिश्र १-१३
- **आधुनिक सन्दर्भ में 'चरैवेति' उपदेश की प्रासंगिकता**
  - डॉ० अनीता राजपाल १४-२०
- **ऐतरेय ब्राह्मण में सृष्टि विज्ञान**
  - डॉ० सोमवीर २१-२८
- **ऐतरेय ब्राह्मण में निर्वचन विद्या**
  - डॉ० अभिमन्यु २९-४०
- **ऐतरेय ब्राह्मणान्तर्गत अग्निष्टोम याग**
  - डॉ० विनोद कुमार ४१-५१
- **ऐतरेय ब्राह्मण का स्वरूप एवं महत्त्व**
  - डॉ० सन्त कुमार मिश्र ५२-६७
- **ऐतरेय आरण्यक का पुनरावलोकन**
  - डॉ० जगमोहन ६८-७३
- **वेदों में राष्ट्रचेतना के उदात्त विचार**
  - डॉ० भावप्रकाश एम. गांधी ७४-८२

शुनःशेप आख्यान एवं ऋषिचतुष्टय का प्रतीक

डॉ० पंकज कुमार मिश्र[१]

वैदिक अथ च कतिपय प्राचीन शास्त्रीय ग्रन्थ ही भारत की अस्मिता एवं अस्तित्व के अधिकरण हैं। इन ग्रन्थों ने न केवल भारतीय धर्म, दर्शन एवं संस्कृति की प्रत्यक्ष व्यवस्था दी, प्रत्युत इनका अप्रत्यक्ष संकेत भी दिया। यह अप्रत्यक्ष संकेत इन ग्रन्थों के प्रतिपाद्य की प्रतीकात्मकता में सुनिहित व सन्निहित है। इन प्रतीकों को उनके प्रसंगों, आख्यानों, कथाओं, चरित्रों आदि के माध्यम से ही समझा जा सकता है। ग्रन्थों की इन्हीं परम्परा में अतिप्रथित है ऐतरेय महीदास प्रवर्तित ऐतरेय ब्राह्मण। इसमें रूपकात्मक और प्रतीकात्मक शैली का आश्रय लिया गया है, जो इसकी अभिव्यक्तिगत सप्राणता में अभिवृद्धि कर देती है। इसमें आख्यानों की विशाल परम्परा संकलित है। इनका प्रयोजन याग से सम्बद्ध देवता और उनके शस्त्रों (स्तुतियों) के छन्दों एवं अन्य उपादानों का कथात्मक ढंग से औचित्य-निरूपण है। इन आख्यानों में शुन:शेप का आख्यान, जिसे हरिश्चन्द्रोपाख्यान भी कहा जाता है, समाजशास्त्र, नेतृत्वशास्त्र एवं

---

१ **एसोसिएट प्रोफेसर, संस्कृतविभाग सेंट स्टीफेन्स कॉलेज, दिल्ली-७**

धर्मशास्त्र की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है।

सम्पूर्ण ऐतरेय ब्राह्मण में ४० अध्याय हैं। प्रत्येक पाँच अध्यायों को मिलाकर एक पञ्चिका निष्पन्न होती है। इन पञ्चिकाओं की कुल संख्या आठ है। अध्याय का अवान्तर विभाजन खण्डों में है, जिनकी संख्या प्रत्येक अध्याय में पृथक्-पृथक् है। समस्त चालीस अध्यायों में कुल २८५ (कहीं कहीं २६८ का भी उल्लेख प्राप्त होता है) कण्डिकाएं (खण्ड) हैं।

ऐतरेय ब्राह्मण की सप्तम पंचिका के इकतीसवें से सैंतीसवें अध्याय में राजसूय यज्ञ के प्रसंग में प्रकृत चर्चित एवं महत्त्वपूर्ण प्रसंग प्राप्त होता है। राजा के द्वारा की गयी प्रतिज्ञा का निर्वाह कितना अनिवार्य है- यह आख्यान इसी तथ्य एवं कथ्य का सुन्दरतम पथ्य है।

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार संक्षिप्त रूप में आख्यान इस प्रकार है- इक्ष्वाकु वंश के वेधस राजा के पुत्र हरिश्चन्द्र पुत्ररहित थे, उन्होंने नारद ऋषि के उद्बोधन से वरुण से पुत्र की याचना की। वरुण की उपासना और उनकी प्रसन्नता की परिणति रोहित नामक पुत्र की प्राप्ति में होती है। किन्तु इसके नेपथ्य में एक अधमर्णता यह थी कि राजा अपने उस पुत्र को आराध्य वरुण को समर्पित कर देंगे अर्थात् राजा अपने उस पुत्र से ही वरुण का यजन करेगा। पुत्रप्राप्ति के अनन्तर वे उसे समर्पित करने के प्रति अनिच्छा प्रकट करते रहे। पुनःपुनः यजन की नवीन तिथि नियत करता और समय आने पर यजन नहीं करता था। प्रतिश्रुतिविमुखता के कारण वरुण के कोपवश वे रोगग्रस्त हो गये। राजा ने एक बार यजन करने का प्रयास किया, परन्तु इस समस्त घटना से आहत युवक रोहित वन की ओर पलायन कर गया। पिता के रोग की सूचना उसे वन में मिल जाती है, परन्तु जब भी वह आने का प्रयास करता, इन्द्र ब्राह्मण के वेष में आकर उसे पुनः

वन में वापिस भेज देता।

छठे वर्ष अरण्य में उसकी भेंट बिना भोजन के रहने वाले अजीगर्त ऋषि से हुआ, उसके **शुनःपुच्छ**, **शुनःशेप** और **शुनोलांगूल** नाम के ये तीन पुत्र थे। उस राजा ने इस ऋषि से प्रार्थना की कि मुझे वरुण का यजन करने के लिये इनमें से एक पुत्र दे दें, प्रतिदान में मैं आपको सौ गायें दूँगा, ज्येष्ठ पुत्र को देने के लिये पिता और कनिष्ठ को देने के लिये माता तैयार नहीं हुईं, अतः मध्यम पुत्र शुनःशेप को दे दिया गया। रोहित शुनःशेप को लेकर पिता के पास आया और कहा कि इसका यजन करके मैं अपने को बलि से बचाऊँगा। अनन्तर राजा बलिव्यवस्था के लिये राजसूय यज्ञ का आयोजन करता है।

इस राजसूय यज्ञ में विश्वामित्र, वसिष्ठ और जमदग्नि ऋत्विक् थे। इसमें विश्वामित्र होता, जमदग्नि अध्वर्यु, वसिष्ठ ब्रह्मा, और अयास्य उद्गाता के रूप में उपस्थित हुए, किन्तु ऐसा कोई व्यक्ति न मिला जो शुनःशेप का बलिबन्धन करता। शुन:-शेप की बलि के लिए इनमें से किसी के भी तैयार न होने पर पुन: अजीगर्त्त ने ही लोभवश सौ गायें लेकर शुन:शेप को यज्ञयूप से बाँध दिया। अब बलि के लिये उसका वध करने वाला कोई न मिला, तब फिर अजीगर्त ने कहा कि सौ गाय मुझे और दो मैं इसका वध कर दूँगा। उसे सौ गाय और दी गयीं, वह वध करने के लिये तलवार तेज करने लगा, तब शुनःशेप के मन में आया कि मुझे देवताओं के पास जाना चाहिये, यह सोचकर वह देवताओं में सबसे पहले प्रजापति के पास गया, प्रजापति ने अग्नि के पास, अग्नि ने सविता के पास, सविता ने विश्वदेवों के पास, विश्वदेवों ने इन्द्र के पास भेजा। इन्द्र ने स्तुति से प्रसन्न होकर शुनःशेप को

स्वर्ण का रथ दिया और उससे कहा कि अश्विनी देवों की स्तुति कर, अश्विनों ने उसे उषा के पास भेज दिया। इस प्रकार उक्तविभिन्न देवी-देवताओं कि स्तुति के अनन्तर शुन:-शेप बन्धन-मुक्त हो जाता है। और हरिश्चन्द्र का महोदर का रोग भी जाता रहा। लोभी पिता का उन्होंने परित्याग कर दिया। विश्वामित्र ने उन्हें पुत्ररूप में स्वीकार कर लिया। अनन्तर यह शुन:-शेप देवरात विश्वामित्र नाम से प्रथित हुआ।

इस आख्यान के अनेक सम्भावित प्रतीकार्थ हैं। प्रथमत: इनके आपातत: प्रतीत होने वाले कतिपय प्रमुख प्रयोजनों को क्रमश: प्रस्तुत किया जा रहा है-

- वैदिक मन्त्रों की शक्ति एवं सामर्थ्य का अर्थवाद के रूप में प्रतिपादन, जिनकी सहायता से व्यक्ति वध और बन्धन से भी मुक्त हो सकता है।
- यज्ञ या किसी भी धार्मिक कृत्य में नरबलि जैसे घृणितकृत्य की भर्त्सना।
- आदिम-प्राकृतकाल में, जब, यज्ञसंस्था विधिवत् गठित न हो पाई हो, नरबलि की छिटपुट घटनाओं की यदा-कदा आवृत्ति की ओर संकेत। ऐतरेय ब्राह्मण ने प्रकृत प्रसंग के माध्यम से इसे अमानवीय कहा है।
- मानव-हृदय के, ज्ञानी होने पर भी, लोभमयी प्रवृत्ति का निदर्शन जिसके उदाहरण ऋषि अजीगर्त हैं।
- राज-सत्ता द्वारा निजी स्वार्थ के लिए प्रजा का प्रलोभनात्मक उत्पीड़न।

इस आख्यान से निकलने वाले कुछ मूलभूत विषय, जिनका आख्यान से सद्यः सम्बन्ध नहीं है, को इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है-

- ऋग्वेद में शुन:शेप ऋषि का उल्लेख प्राप्त होता है (१/२४...३०, ९/३) इस प्रकार इस आख्यान की प्राचीनता निस्संदिग्ध है।
- इस आख्यान से इस तथ्य का संकेत भी ग्रहण होता है कि सम्भवत: कभी राजसूय यज्ञ में नरबलि की प्रथा का प्रचलन रहा हो, यद्यपि इसका एक भी पुष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं होता। (पुनरपि, इस मतिभ्रम का निवारण देश, काल एवं वैचारिक वैषम्य में अनिवार्य है।)
- इस आख्यान में "समस्त वैदिक देवशास्त्र एवं देवों की परम्परा का सार छिपा हुआ है। तदनुसार इस आख्यान में आये देवताओं का महत्त्व क्रमशः घटता चला गया, यहाँ तक कि अन्त में इन्द्र ही समस्त देवताओं के राजा बन गये"।
- इस आख्यान में ऋषि ने इन्द्र से रोहित को **चरैवेति चरैवेति** का जो निरन्तर सोद्देश्य भ्रमण करते रहने का उपदेश दिलाया है उसमें भारतीय कर्मयोग का सम्पूर्ण सार तत्त्व निहित है।
- यह **चरैवेति चरैवेति** ही कालान्तर में कर्मण्येवाधिकारस्ते..... पद्य का उपजीव्य बना।

इस अशेष आख्यान के संकेत को भी यहाँ इस रूप में समझा जा सकता है-

१. पुत्रैषणा मनुष्य में आदिकाल से ही रही है, एतदर्थ वह दैवी शक्तियों के समक्ष अव्यावहारिक संकल्प भी कर बैठता है।

२. प्रिय व्यक्ति/वस्तु के मोह में कृतसंकल्प मनुष्य भी अपने संकल्प के प्रति अन्यब्याजाश्रयी हो ही जाता है।

३. अपने त्याग से बचने के लिये मनुष्य दूसरे को धन-संपदा देकर त्याग के लिए प्रेरित करने से संकोच नहीं करता है।

४. अपनी प्रिय वस्तु/व्यक्ति की रक्षा के लिए मनुष्य का दैवी शक्तियों की शरण में जाना सामान्यतः सदैव होता रहा है।

५. इन्द्र द्वारा दिए गए "चरैवेति" के उपदेश में उद्यमशीलता का संदेश स्पष्ट है।

६. शुनःशेप की कथा से यह भी ज्ञात होता है कि यज्ञ में नरबलि वास्तविक न होकर मात्र प्रतीकात्मक होती थी।

पुनरपि, इस आख्यायिका के सर्वाधिक मार्मिक एवं हृदयावर्जक अंश दो ही हैं। तद्यथा-

- प्रारम्भ में पुत्र-लालसा की गाथाओं के माध्यम से राजा हरिश्चन्द्र के भावों की मार्मिक अभिव्यक्ति तथा
- 'चरैवेति' का प्रेरणामय सन्देश।

उक्त आख्यान का तृतीय पक्ष यजन है। राजसूय यज्ञ के अवसर पर शुनःशेप के बलि-सम्पादन कार्य के लिये राजा हरिश्चन्द्र ने **विश्वामित्र**, **जमदग्नि**, **वसिष्ठ** और **अयास्य** इन चार ऋषियों को यजन हेतु नियुक्त किया है। इस आख्यान के अभिधेयार्थ से भिन्न ऋषियोजना का भी प्रतीकार्थ है। इस क्रम में यह पहले ही समझ लेना चाहिए कि ऋषि का अर्थ द्रष्टा माना जाता है, अतः ये जीवन को जीने के दर्शन का भी ज्ञाता होता है। इसी नेपथ्य में, इन ऋषियों की योजना के प्रतीकार्थ को यहाँ

समझने का एक प्रयास किया जा रहा है। यही इस आलेख की प्रतिज्ञा है जिसे हेतु, उदाहरण, उपनय एवं निगमन के द्वारा प्रस्तुत किया जा रहा है, तद्यथा-

विश्वामित्र

विश्वामित्र और जमदग्नि ऋषिचतुष्टय में से ये दो पुरोहित जीवन को देखने की दो दृष्टियाँ हैं। ऐतरेय-ब्राह्मण में विश्वामित्र को विश्व का मित्र और जिसके लिये सम्पूर्ण विश्व मित्र बन जाता है, प्रतिपादित किया है। शतपथ-ब्राह्मण में श्रोत्र को **विश्वामित्र** बताया है और कहा है कि जिसके लिये चारों ओर मित्रता की भावना होती है, वह 'विश्वामित्र'है- **विश्वामित्रऋषिरिति। श्रोत्रं वै विश्वामित्र ऋषिर्यदेनेन सर्वतः शृणोत्यथो यदस्मै सर्वतोमित्रं भवति तस्माच्छ्रोत्रं विश्वामित्रऋषिम्** (८/१/२/६)। ऋग्वेद में सर्वप्रथम यह स्पष्ट किया गया है कि विश्वामित्र राजा पैजवन के पुरोहित थे- **विश्वामित्रः ऋषिः सुदासः पैजवनस्य पुरोहितो बभूव** (२.२४)। तदनन्तर उसके निर्वचन में विश्वामित्र को सर्वमित्र कहा गया- **विश्वामित्रः सर्वमित्रः** (२/२४)। उक्त उद्धरणों से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि जो सबका भला चाहता है, उसी के मङ्गल की कामना अन्य भी करते हैं। अपने में अहिंसा की प्रतिष्ठा किये बिना दूसरों से अहिंसक व्यवहार की अपेक्षा नहीं की जा सकती। जो हम दूसरे से अपने लिये अपेक्षा करते हैं, वह हमें पहले दूसरों के लिये करना चाहिये। यह तभी सम्भव है कि जब हम स्व एवं पर भेद से ऊपर उठ जायें। विश्वामित्र उस दृष्टि का परिणाम है, प्रारम्भ नहीं। इसलिये ब्राह्मणों ने **यदस्मै सर्वतो मित्रं भवति** या **विश्वं हास्मै मित्रं भवति** कहा है।

सत्य और अहिंसा की प्रतिष्ठा वाला व्यक्ति समदृष्टि से भिन्न नहीं हो

सकता। गीता में श्रीकृष्ण ने अहिंसा, समता आदि भावों की उत्पत्ति ईश्वर से मानी है। इस प्रकार इनकी प्रतिष्ठा करने वाला व्यक्ति अपने में ईश्वर के गुणों का विकास करता है। इसलिये वह सबका मित्र तथा सब उसके मित्र हो जाते हैं। ईश्वर के सर्वव्यापक होने के कारण वह सर्वत्र सबमें उसी एक आत्मतत्त्व का दर्शन करता है और तादात्म्य होने के कारण कण-कण में व्याप्त ईश्वर से, ईश्वर का भेद कैसे कर सकता है? सच्चे आत्मदर्शी को भेद करने के लिये ईश्वर को एकदेशीय और व्यष्टि मानना होगा, ऐसा उसके लिये सम्भव नहीं है। व्यष्टिरूप दुःख से समष्टिरूप आनन्द सागर में पहुँचने के पश्चात् **विश्व+मित्र** से **विश्व+अमित्र** नहीं बना जा सकता। इस प्रकार व्यष्टि से समष्टि की अनुभूति **विश्वामित्र** है।

जमदग्नि

द्वितीय ऋषि जमदग्नि है। निघण्टु में 'जमत्' पद ज्वलत् वाचक नामपदों में पठित है। आचार्य यास्क ने जमदग्नि का निर्वचन **प्रज्वलिताग्नि** किया है- **यमदग्नयः प्रयमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा तैरभिहुतो भवति**। शतपथ-ब्राह्मण जमदग्नि का प्रतिपादन करता हुआ कहता है कि चक्षु ही जमदग्नि ऋषि है, क्योंकि इसी से द्रष्टा जगत् को देखता तथा समझता है- **जमदग्निर्ऋषिरिति। चक्षुर्वै जमदग्निर्ऋषिर्यदेनेन जगत्पश्यत्त्यथो मनुते** (८/१/२/३/)।

इस प्रकार शतपथ-ब्राह्मण के अभिमत में देखना और देखने के बाद समझना जमदग्नि ऋषि का कार्य है। निघण्टु और यास्क के मन्तव्य को ध्यान में रखते हुए यहाँ यह कहा जा सकता है कि दो चक्षुओं में से 'जमदग्नि' वह चक्षु है, जो देखने के साथ-साथ समझते हुए लोक को

परखता और आवश्यकता होने पर अपने उग्र तेज को प्रकट भी करता है। सज्जन के साथ सज्जनता का और दुर्जन के साथ दुर्जनता का व्यवहार करना **जमदग्नि** ऋषि का कार्य है।

जमदग्नि के लिये अवसर

जब जीवन यापन करने में विश्वामित्र दृष्टि से काम नहीं चलता, तब जमदग्नि (उग्र तेज) का आश्रय आवश्यक हो जाता है। वैदिक दर्शन पलायनवादी दर्शन नहीं है। पराजित और प्रताड़ित अनुभव करते हुए जीवन समर में बने रहना या पलायन कर जाना आत्मगौरव को कुण्ठित करता है। जहाँ दूसरे को आहत करना हिंसा है, वहाँ निर्दोष होते हुए स्वयं को आहत होने देना हिंसा ही है। हिंसा की जीवन रेखा को सङ्कुचित कर देना या उस पर पूर्ण विराम लगा देना अहिंसा है। इस स्थिति का निर्माण करने के लिये जिस उग्रतेज और मन्यु की आवश्यकता होती है, वह **जमदग्नि** है, वह साक्षात् ज्वाला है।

वसिष्ठ

तृतीय ऋषि वसिष्ठ हैं, जो उक्त यज्ञ के ब्रह्मा हैं। ऐतरेय आरण्यक के अनुसार देवताओं ने कहा है कि यह प्राण अर्थात् वसिष्ठ हम लोगों में निरन्तर रहने वाला है। अतः, वासकतम होने के कारण यह वसिष्ठ है। शतपथ-ब्राह्मण निवास तथा श्रेष्ठ होने के प्राण को वसिष्ठ रूप में प्रतिपादित करता है- **वसिष्ठ ऋषिरीति। प्राणो वै वसिष्ठ ऋषिर्यद्वै नु श्रेष्ठस्तेन वसिष्ठोऽथो यद्वस्तृतमो वसति तेनो एव वसिष्ठ** (८/१/१/६)। गोपथ-ब्राह्मण से भी उक्त कथन की पुष्टि होती है।

लोक जीवन तथा आध्यात्मिक जीवन की सफलता के लिये प्राणों

का न केवल अस्तित्व आवश्यक है, अपितु पुष्टि भी। प्राण के दुर्बल होने से सुन्दर लोक भोग के योग्य नहीं रहता है और बिना भोग के अपवर्ग की कल्पना भी करना सम्भव नहीं है। इस प्रकार **वसिष्ठ** का ऋषित्व प्राणों की प्राणवत्ता में निहित है। धर्म, अर्थ, काम- यहाँ तक कि मोक्ष की उपलब्धि बिना प्राण के सम्भव नहीं है। इसलिये ब्राह्मणों ने उसे **वासकतम** कहा है। दीर्घायु तथा सबलता को परिलक्षित करने के लिये प्राण को **वसिष्ठ** ऋषि नाम से अभिहित किया गया है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि जीवन की आध्यात्मिक यात्रा में प्राणरूप **वसिष्ठ** ब्रह्मा के रूप में कार्य करते हैं।

अयास्य

ऐतरेय ब्राह्मण चतुर्थ ऋत्विज् (उद्गाता) के रूप में अयास्य का नाम प्रस्तुत करता है। आचार्य स्कन्दस्वामी ने अयास्य के स्वरूप को इस प्रकार स्पष्ट किया है- **अयास्यो नामाङ्गिरसोऽभिप्रेतः। कथमवगम्यते एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वाः**' (ऋग्०१०.१०८.८) **इति दर्शनात्। अथवा आनेतुमशक्यत्वादयास्य इन्द्र एवोच्यते**। ऋग्वेद के प्रमाण से विदित होता है कि अङ्गिरसों में अन्यतम ऋषि अयास्य है अथवा जिसे लाना सम्भव नहीं है, वह इन्द्र ही अयास्य है।

सायण के अनुसार अयास्य

आचार्य सायण अयास्य का विवेचन कुछ अधिक गम्भीरता से करते हुए कहते हैं- **यासः प्रयत्नः। तत्साध्यो यास्यः। न यास्योऽयास्यः। युद्धरूपैः प्रयत्नैः साधयितुमशक्य इत्यर्थः। यद्वा। अयास्यः पञ्चवृत्तिर्मुख्यप्राणः। स हि आस्यात् मुखात् अयते गच्छति निक्रामति। तदुपासकोऽप्यङ्गिरा उपचारात् अयास्य उच्यते। तथा च छन्दोगैराम्नातम्-तं हायास्य**

उद्गीथमुपासांचक्रे एतमु एवायास्यं मन्यन्त आस्याद्यदयते तेन (छा.उ., १.२.१२) **इति। अथवा अयमास्ये मुखे वर्तते इत्ययास्यः। तथा च वाजसनेयकम्- ते होचुः क्व नु सोऽभूद्यो न इत्थमसक्तेत्ययमास्येऽन्तरिति** (बृ.उ., १.३.८) **इति। पूर्ववदुपासकोऽप्ययास्यः** कि यास का अर्थ है- प्रयत्न, उससे साध्य यास्य और जो प्रयत्न से साध्य न हो, वह अयास्य। अथवा पञ्चवृत्तियों वाला मुख्य प्राण अयास्य है, वह आस्य अर्थात् मुख से निकलता है, उसका उपासक अङ्गिरा भी उपचार से अयास्य कहा जाता है- उस अयास्य ने प्राण के रूप में उद्गीथ की उपासना की। लोग इस प्राण को ही अयास्य मानते हैं, क्योंकि यह आस्य (मुख) से निकलता है। अथवा यह आस्य (मुख) में रहता है, इसलिये यह अयास्य है। इस विषय में वाजसनेय का प्रमाण- वे बोले वह कहाँ है, जिसने हमें इस प्रकार असक्त अर्थात् देवभाव को प्राप्त किया। उन्होंने विचार करके निश्चय किया कि वह आस्य के भीतर है। पूर्वोक्त प्रकार से उपासना करने वाला उपासक भी **अयास्य** है।

अयास्य नामकरण का निहितार्थ

सायण द्वारा उद्धृत छान्दोग्य और बृहदारण्यकोपनिषद् के पूर्वापर प्रसङ्ग का अवलोकन करने के पश्चात् स्पष्ट होता है कि छान्दोग्य में उद्गीथ बताकर प्राण की उपासना करने के लिये कहा जा रहा है, जबकि बृहदारण्यक में उद्गाता के रूप में प्राण का उल्लेख है। शुनःशेप आख्यान में अयास्य को उद्गाता बताया गया है, जो उपनिषद् की भावना के साथ संगत हो रहा है। बृहदारण्यक के उक्त वक्तव्य से प्राण की उपासना करने से असक्त स्थिति का निर्माण होता है और उससे देवत्व की प्राप्ति होती है।

इस प्रकार अयास्य प्राणसाधना से प्राप्त होने वाली वह स्थिति है, जिसमें प्रयास का महत्त्व नहीं रह जाता है। दूसरे शब्दों में, इसको सांख्य के द्रष्टा और साक्षी भाव की साधना के समान माना जा सकता है, क्योंकि निर्विकार आत्मतत्त्व को किसी विकार (प्रयत्न) के द्वारा नहीं पाया जा सकता।

ऋत्विक् चतुष्टय का निहितार्थ

शुनःशेप के नरमेध-यज्ञ को सम्पन्न कराने वाले चार ऋत्विज हैं- विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ और अयास्य। इनमें से विश्वामित्र और जमदग्नि जीवन की सकारात्मक दृष्टि को निरूपित करते हैं, वहीं वसिष्ठ और अयास्य प्राणसाधना और उससे उपलब्ध होने वाले सोपान को इंगित करते हैं। यदि इस प्रकार नरमेध किया जाये तो निश्चित रूप से नरमेध का उत्कर्ष होगा। शास्त्र में इसे द्विजत्व की उपलब्धि कही जाती है, वह स्थिति भी द्विजपूर्व स्थिति का वध करती है। ब्रह्मचर्य सूक्त में वर्णन है कि जब ब्रह्मचारी तीन रात्रिपर्यन्त आचार्य के गर्भ में रह लेता है, तब उसे देखने के लिये देवता आते हैं-

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः।
तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमाभसियन्ति देवाः॥ ११/५/३

आगे मन्त्र कहता है कि अपने अन्दर से ब्रह्म को उत्पन्न करने पर ब्रह्मचारी इन्द्र बन जाता है और असुरों का नाश करने में समर्थ होता है- **गर्भो भूत्वाऽमृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वाऽसुरान्स्ततर्ह**॥ ११/५/७॥ पशु से द्विज बनने या ब्रह्मचारी से इन्द्र बनने या फिर तीन रात्रि पर्यन्त यम के आवास पर रहने पर जो चमत्कारी परिवर्तन होते हैं, वही परिवर्तन शुनःशेप में त्रिविध बन्धन से मुक्त होने पर दर्शाया गया है।

उक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि शुनःशेप भी तीन बन्धनों में बँधा हुआ है, वहीं अथर्ववेद का ब्रह्मचारी आचार्य के उदर में और कठोपनिषद् का नचिकेता यम के आवास पर तीन रात्रि पर्यन्त रहता है- **तिस्रो रात्रीर्यदवासीर्गृहे** (१/९)। उपर्युक्त अथर्ववेद, ऐतरेय ब्राह्मण और कठोपनिषद् की वक्तव्य शैली एक ही दिशा की ओर संकेत कर रही है। हम बन्धन कहें या रात्रि कथ्य एक ही है। अथर्ववेद और कठ रात्रि के माध्यम से त्रिविध दुःखों का प्रतिपादन कर रहे हैं, वहीं ऋग्वेद से प्राप्त संकेत के आधार पर ऐतरेय ब्राह्मण तीन बन्धनों से बँधे हुए के रूप में शुनःशेप को कुत्ते की पूँछ बता रहा है। अज्ञान और उससे जन्य दुःखों पर प्रहार करने के ये दोनों प्रकारमात्र हैं। यह कहना अधिक उचित होगा कि जहाँ अथर्ववेद और कठोपनिषद् की शैली अधिक शिष्टता और सुकुमारता लिये हुए है, वहीं ऐतरेय ब्राह्मण की कथनशैली अधिक प्रभावी रूप से मर्म पर प्रहार करने में सक्षम है और रुककर सोचने के लिये विवश करती है।

अस्तु, विषय को समझने की प्रस्तुत दृष्टि वेद एवं वैदिक ज्ञान के प्रसार का एक माध्यम हो सकता है। वस्तुतः वेद एवं वैदिक साहित्य को घटना या कथानक मात्र का उपबृंहण समझना उन श्रमों के प्रति अन्याय होगा जिन्हें क्रान्तद्रष्टा ऋषियों ने शब्दबद्ध किया। उनके प्रतीकों, निहितार्थों, संकेतों को समझना भारतीय इतिहास की ज्ञानगह्वरता को मापने का भी सफल आयास होगा। ऐतरेयब्राह्मण कदाचित् इन्हीं वैशिष्ट्यों को समाविष्ट किये हुए हैं जहाँ ऋषिचतुष्टय की परिकल्पना उन्हीं प्रतीकों, निहितार्थों एवं संकेतों का एक सर्वसाफल्यपूर्ण निदर्शन है।

आधुनिक सन्दर्भ में 'चरैवेति' उपदेश की प्रासंगिकता

डॉ० अनीता राजपाल[१]

ब्राह्मण-ग्रन्थों का प्रधान विषय 'याग' है। याग में, याग के अंग - द्रव्य, देवतादि की अमोघता, औचित्य अथवा अनौचित्य को सिद्ध करने के लिए आख्यानों का सृजन किया गया है। ये आख्यान किसी कर्म के विधान अथवा निन्दा के क्रम में दिये गये हैं। इन आख्यानों में गूढ़ और तात्त्विक तथ्यों का संकेत मिलता है। इन आख्यानों में एक ओर व्यक्ति की तात्कालिक समस्याओं के निवारण के सूत्र हैं, तो वहीं समाज, देश तथ विश्व के लिए कल्याणकारी संदेश भी निहित है। ऐतरेय ब्राह्मण के '**शुंनःशेप-आख्यान**' में पुत्र-लाभ[२] तथा भ्रमण का महत्त्व प्रतिपादित है। इसी आख्यान के प्रसंग में 'चरैवेति' प्रसंग में ऋषि ने इन्द्र-रोहितोपदेश के व्याज से गतिशीलता, कर्मशीलता का सार्वकालिक, सार्वदैशिक संदेश दिया है।

१ **सहाचार्या, संस्कृत-विभाग, हिन्दू-महाविद्यालय, दिल्ली-विश्वविद्यालय, दिल्ली-७**

२ त्रयस्त्रिंशोऽयमध्यायः शौनशेपेति नामवान्। हरिश्चन्द्र तत्र कथिता बहुपुत्रदा। ऐतरेय ब्राह्मण ३३.१.४

ऐतरेय ब्राह्मण के तेंतीसवें अध्याय में शुनःशेप के प्रसिद्ध आख्यान में राजा हरिश्चन्द्र की कथा दी गयी है। इक्ष्वाकु वंश का राजा हरिश्चन्द्र सन्तानहीन था। महर्षि नारद ने उसे उपाय बतलाया कि तुम राजा वरुण से प्रार्थना करो कि 'मुझे पुत्र उत्पन्न होएँ, उससे मैं तुम्हारा यजन करूँगा अर्थात् यज्ञ में उसकी आहुति दूँगा।' उसका रोहित नामक पुत्र हुआ। वरुण ने उसे पुत्र द्वारा यजन करने को कहा। हरिश्चन्द्र यह कह कर टालते रहे कि अभी यह बालक है, इसके दाँत निकलने दो, दाँत टूटने दो, पुनः दाँत निकलने दो। अन्तिम बार यह कहकर टाल दिया कि क्षत्रिय का पुत्र धनुष, बाण, कवच इत्यादि शस्त्रों से युक्त होने पर ही यज्ञ-योग्य होता है। रोहित के अस्त्र-शस्त्र की विद्या सीखने के उपरान्त पिता ने उसे सारा वृत्तान्त बतलाया। अपने यजन की बात सुनकर रोहित धनुष-बाण लेकर वन में चला गया और एक वर्ष तक वहाँ घूमता रहा।

रोहित के जाने के बाद वरुण के कोपवश हरिश्चन्द्र को जलोदर रोग हो गया। पिता के रोग का समाचार रोहित को मिला तो वह वन से गाँव की ओर चला, परन्तु इन्द्र ने उसे रोका। इस प्रकार पाँच वर्षों तक इन्द्र के द्वारा रोके जाने जाने पर छठें वर्ष उसे अपनी समस्या के निवारण का उपाय मिला। इन्द्र ने पाँच वर्षों में '**चरैवेति चरैवेति**' अर्थात् निरन्तर चलते रहने के पाँच लाभों को बतलाया, जिससे जीवन को स्वस्थ, सुखी और ऐश्वर्य सम्पन्न बनाया जा सकता है। वे लाभ इस प्रकार हैं-

१. '**नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति**'[३] - सर्वत्र पर्यटन करने से अनेक प्रकार की सम्पत्ति प्राप्त होती है।[४] यात्रा न करने वाले को कोई सुख नहीं

---

[३] नानाश्रान्ताय श्रीरस्तीति रोहित शुश्रुम। पापो नृषद्वरो जन, इन्द्र इच्चरतः सखा चरैवेति॥- ऐतरेय ब्राह्मण, ३३.३.१

[४] सर्वत्र पर्यटनेन शान्ति ....'श्री' बहुविधा संपन्नास्ति। ऐतरेय ब्राह्मण, सायणभाष्य, ३३.३.१

मिलता। जिसके पास विद्यादि सम्पत्ति का सुख है, ऐसा श्रेष्ठ व्यक्ति भी बन्धु-बान्धवों के बीच अकर्मण्य रहने पर, मान-सम्मान खो देता है। यदि व्यक्ति यह सोचें कि एकाकी कैसे उच्च लक्ष्य को प्राप्त कर पाऊँगा? ऐसे द्विविधाग्रस्त मानव को ऋषि समझता है कि परमेश्वर ही तुम्हारा मित्र है।

संस्कृत जगत् में 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' यह प्रशस्ति अत्यधिक लोकप्रिय है। बाण का व्यापक अनुभव युवावस्था के भ्रमणों से ही पुष्ट हुआ था। उनकी उर्वर कल्पना-शक्ति तथा अगाध पाण्डित्य से समन्वित होकर गद्यकृतियों में प्रवाहित हुआ है। बाण ने अपनी रचनाओं में समस्त जगत् का समावेश किया है- यही इस उक्ति का स्वारस्य है।

आज 'पर्यटन' एक व्यवसाय के रूप में उभर रहा है। भ्रमण से दूसरे देश का भौगोलिक वातावरण, जनंसाधारण को मिलने वाली सुख-सुविधाएँ, रहन-सहन, खानपान, संस्कृति तथा समाज का ज्ञान होता है। देश-देशान्तर के भ्रमण से व्यक्ति के विचारों में परिवर्तन तथा कार्यशैली में सुधार होता है।

'अश्रान्त' का अर्थ यह भी है कि कार्यसिद्धि के लिए बिना थके परिश्रम करने वाले को ही श्री = लक्ष्मी मिलती है। कहा भी गया है - '**उद्यमेन हि सिद्धयन्ति कार्याणि न मनोरथैः**'। निरन्तर परिश्रम करने से ही अपने-अपने व्यवसाय को उन्नति के शिखर पर पहुँचाने वाले, अपने-अपने क्षेत्र में नये-नये कीर्त्तिमान स्थापित करने वाले प्रभूत धन-सम्पत्ति के स्वामी बन जाते हैं।

आज व्यक्ति एकाकीपन की समस्या से भी जूझ रहा है। घर में, बाहर, एकाकी जीवन अभिशापग्रस्त बन जाता है। लक्ष्य-प्राप्ति में, कार्य-क्षेत्र में आने वाली समस्याओं से एकाकी कैसे निपटा जाए? वृद्धावस्था में

कौन सहायक होगा? इन समस्याओं को समाधानार्थ ऋषि कहते है कि इन्द्र अर्थात् परमेश्वर ही सबका सहायक है। प्रत्येक विपदा से निकालने का मार्ग परमेश्वर ही सखा बन कर सुझाता है।

२. द्वितीय वर्ष इन्द्र ने पुनः रोहित को भ्रमण के लाभ गिनवायें -

- भ्रमण करने वाले पुरुष की जांघें पुष्ट होती है।
- शरीर का मध्यभाग आरोग्य को प्राप्त हो जाता है।
- भ्रमण करने वाला पुरुष मार्ग में पड़ने वाले तीर्थों में देवी-देवताओं के दर्शन से पापकर्म से मुक्त हो जाता है। पुण्यार्जन करने से नरक में नहीं जाता।[५]

योग भारतीय ज्ञान की अत्यन्त प्राचीन शैली है। योग को शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक रूप से स्वस्थ रहने की पद्धति के रूप में मान्यता प्राप्त है। यह भारतवासियों के जीवनचर्या का भाग है। वस्तुतः स्वस्थ जीवन जीने की कला को योग कहते हैं। योग के इस वैश्विक महत्त्व के कारण ही संयुक्त महासभा ने २१ जून को 'अन्तर्राष्ट्रिय योग दिवस' घोषित किया।

कालिदास ने भी कहा है - **'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'**[६] अर्थात् शरीर ही धर्म की सिद्धि का प्रथम साधन है। शरीर के स्वस्थ रहने पर ही व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूपी पुरुषार्थचतुष्ट्य की प्राप्ति की ओर अग्रसर हो सकता है। अतः शरीर की सब प्रकार से रक्षा करनी चाहिए।

३. इन्द्र ने तृतीय और चतुर्थ वर्ष में मनुष्य की चार प्रकार की

---

[५] पुष्पिण्यौ चरतो जङ्घे भूष्णुरात्मा फलग्रहिः। शेरेऽस्य सर्वे पाप्मानः श्रमेण प्रपथे हताश्चरैवेति॥ ऐतरेय ब्राह्मण, ३३.३.२

[६] कुमारसम्भवम्, ५.३३

गतिविधियों की तुलना चार युगों से करते हुए रोहित को गतिशील होने के महत्त्व को स्पष्ट किया है। आलसी व्यक्ति का भाग्य भी बैठ जाता है और खड़े हुए का भाग्य वृद्धि की ओर उन्मुख होता है, भूमि पर शयन करने वाले का भाग्य सो जाता है और देश-विदेश में निरन्तर विचरण करने वाले का भाग्य भी प्रतिदिन बढ़ता है।[७]

चारों युगों को मनुष्य की विभिन्न अवस्थाओं के परिणाम के प्रतीक रूप में प्रस्तुत किया है। कलियुग सोया हुआ रहता है। असन्तोष, अशान्ति, पारस्परिक कलह इस युग की विशेषताएँ है। शयनकर्त्ता मनुष्य का जीवन भी दुःख, कष्ट तथा कलह से भरा हुआ होता है।

जो मनुष्य निद्रा को त्यागकर उठने को तत्पर रहता है, कार्य में प्रवृत्त होने का मन बनाता है, वह द्वापर जैसा फल पाता है। द्वापर जगे हुए का प्रतीक है। महाभारत में द्वापर युग का चित्र अंकित है। महाभारत में भी दूषित प्रवृत्तियाँ प्रबल थी, किन्तु अन्ततोगत्वा पुरुषार्थ के बल पर उनका नाश होकर सत्य की, धर्म की विजय होती है।

त्रेता युग खड़ा हुआ रहता है। परस्पर स्नेह, धार्मिक, नैतिक-भावना की प्रबलता इस युग की विशेषता है। यद्यपि रावण वहाँ भी है। कार्य में प्रवृत्ति प्रारम्भ करने वाला त्रेता जैसा फल पाता है। सत्युग सर्वोत्कृष्ट युग है। यह संचरण करता रहता है। शान्ति, सन्तोष, ईश्वर पर पूर्ण विश्वास इस युग की विशेषताएँ है। निरन्तर संचरण करने वाला व्यक्ति अपना कार्य करता है। किसी अन्य के धनादि की कामना नहीं करता है।

ऋषि मनुष्य से कलियुग, द्वापर, त्रेता और सत्ययुग के समान

---

[७] कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः। उत्तिष्ठस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरश्चरैवेति। ऐतरेय ब्राह्मण, ३३.३.३-४

उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होने की प्रेरणा दे रहे हैं। निद्रात्याग कर आगे बढ़ने का सन्देश दे रहे हैं।

यह उपदेश विद्यार्थियों के लिए विशेष रूप से प्रेरणास्पद है। ऋषि-वचन 'स्वाध्यायान्मा प्रमदः'[८] का अनुसरण करके भारतीय मूल के कनाडाई-अमेरिकी प्रो. मृदुल भार्गव ने चालीस वर्ष की आयु में २०१४ में गणित के क्षेत्र में सर्वोच्च पुरस्कार 'फील्ड्स मेडल' प्राप्त किया।

कठोपनिषद् में भी कहा गया है- **'उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत'।**[९] गीता में भी कहा गया है- नियमित रूप से कर्म करो।[१०] कर्म न करने में आसक्ति नहीं होनी चाहिए।[११] भर्तृहरि ने आलस्य को मनुष्यों के शरीर में रहने वाला सबसे बड़ा शत्रु माना है और पुरुषार्थ को मित्र।[१२]

४. चरैवेति का फल - जिस प्रकार माधुर्ययुक्त वृक्ष के बौर, फल से मधुमक्खी 'मधु' प्राप्त करती है, उसी प्रकार सतत संचरणशील व्यक्ति कभी सुख, आनन्द को प्राप्त करता है, कभी स्वादिष्ट उदुम्बरादि फलों को प्राप्त करता है। अर्थात् तत् तत् देश के भोगविशेष को प्राप्त करता है।[१३] उदुम्बर की लकड़ी पवित्र मानी जाती है। यज्ञ की समिधाओं के लिए इसका

---

[८] तैत्तिरीयोपनिषद्, ११.१

[९] कठोपनिषद्, १.३.१४

[१०] नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः। शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः॥ - गीता, ३.८

[११] ते संगोऽस्त्वकर्मणि। - गीता, २.४७

[१२] आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः। नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कृत्वा यं नावसीदति॥- नीतिशतकम्, ८७

[१३] चरन्वै मधु विन्दति चरन् स्वादुमुदुम्बरम्। सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरन् चरैवेति॥ - ऐतरेय ब्राह्मण, ३३.३.५ तथा सायणभाष्य।

प्रचुर प्रयोग होता है। मधु और उदुम्बर सामान्य फलमात्र के प्रतीक हैं। विशेष फल सूर्य के समान देदीप्यमान हो जाता है।

मन्त्र के उत्तरार्ध में ऋषि कहते हैं कि गतिशील सूर्य अनादि काल से इसी प्रकार देदीप्यमान है, वह कभी आलस्य नहीं करता। एक क्षण भी विश्राम नहीं करता। इसी प्रकार तेजोमय और स्फूर्त्ति से युक्त जीवन चाहने वाले को अनवरत गतिशील रहना चाहिए।

रोहित पाँच वर्षों तक इन्द्र के 'चरैवेति' उपदेश का अनुसरण करके छठे वर्ष अजीगर्त नामक ऋषि से मिला। अजीगर्त से सौ गायों के बदले उसके पुत्र शुनःशेप को ले आया और स्वयं को वरुण से छुड़ा लिया। इस 'चरैवेति' प्रसंग का अभिप्राय यही है कि यदि हरिश्चन्द्र कुछ प्रयत्न करता, अकर्मण्य बैठकर वरुण को बहानों से न टालता तो वह अवश्य ही अपने पुत्र को बचा लेता और वरुण को भी सन्तुष्ट कर देता। उसकी अकर्मण्यता के कारण ही उसे भयानक जलोदर रोग हो गया। दूसरी ओर अपनी रक्षा के प्रयास में निरन्तर संचरणशील रोहित अपनी रक्षा का उपाय ढूँढनें में सफल हो गया।

इस प्रकार 'चरैवेति चरैवेति' सूत्र के अवलम्बन से विद्यार्थी, युवा, वृद्धादि स्वस्थ शरीर, शांत चित्त से जीवन में श्री-समृद्धि को प्राप्त करते है। अतः आज भी इन्द्र-रोहितोपदेश के निहितार्थ को अपनाने से व्यक्तिगत, पारिवारिक, सामाजिक, दैशिक एवं वैश्विक आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शारीरिक, मानसिक एवं आध्यात्मिक उन्नति निश्चित ही प्राप्तव्य है, यही इस आख्यान का दिन्य सन्देश है।

ऐतरेय ब्राह्मण में सृष्टि विज्ञान

डॉ० सोमवीर[१]

सृष्टि-उत्पत्ति की रचना के प्रयोजन को जानने की उत्कण्ठा अति प्राचीनकाल से मानव चिन्तन को झकझोरती रही है। कविवर पन्त का कथन है कि "**सुन्दर है विहग सुमन सुन्दर, मानव केवल तुम सुन्दरतम।** निःसन्देह इस समग्र सृष्टि में मनुष्य विधाता के रचना-नैपुण्य की चरम और सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति है। विवेक और जिज्ञासा तत्त्व उसे अन्य जीवधारिओं से पृथक् करते हैं। इस रहस्य को जानने की जिज्ञासा ने सभ्यता के शैशवकाल से ही बौद्धिक विकास के साथ-साथ समस्त दार्शनिक चिन्तन को दिशा-निर्देश दिया है।

ब्रह्माण्ड की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? यह कहाँ से आया? क्या यह सदैव से अस्तित्व में था या इसका कोई रचयिता है? अथवा मनुष्य के लिये ब्रह्माण्ड की रचना की गई। ऐसा लगता है कि अति प्राचीनकाल से भारत के मन्तरद्रष्टा ऋषि अपनी आध्यात्मिक क्षमताओं को विकसित करके ऐसे निष्कर्षों पर पहुँचे जिससे सृष्टि-उत्पत्ति का पता चलता है। ऋग्वेद में दर्शन एवं विज्ञान का अभूतपूर्व समन्वय है। ऋग्वेदीय ब्राह्मण ग्रन्थों के अनुसार- "ईश्वर, जीव और प्रकृति" ये तीनों ही तत्त्व सृष्टि के मूल कारण हैं और

[१] **सहायकाचार्य, संस्कृत विभाग, दि० दि० वि०वि०, दिल्ली**

अनादि हैं। इनका वर्णन मन्त्रद्रष्टा ऋषियों ने काव्यात्मक शैली में अत्यन्त रोचक ढंग से किया है। ऋग्वेद के प्रसिद्ध अस्यवामीय सूक्त[२] में पठित "**द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया**" इत्यादि मंत्र में यह स्पष्ट ध्वनित होता है कि दो पक्षियों में एक (जीवात्मा) नाना योनियों (शरीर) में जाकर नाना प्रकार के सुख-दुःख आदि का भोग करता है और दूसरा (परमात्मा) फलभोग न करते हुऐ केवल साक्षी मात्र है। ब्राह्मण ग्रन्थों में दार्शनिक सिद्धान्तों के रूप में सृष्टि-उत्पत्ति ईश्वर, जीव, प्रकृति, वाक्, मन, पुनर्जन्म, मोक्ष, स्वर्ग आदि विविध विषयों पर चिन्तन किया गया है।

सृष्टि का निर्माण कब हुआ? किसने किया? क्यों किया? किस प्रकार किया? यह जिज्ञासा मानव मन में मनन की धारा के साथ प्रस्फुटित हुई थी और आज भी जिज्ञासुओं को उद्वेलित कर रही है। ऋग्वेद का ऋषि जब जिज्ञासा करता है कि - "**को अद्धा वेद" क इह प्रवोचत कुत आ जाता कुत इयं विसृष्टि**"[३] अर्थात् कौन जानता है और कौन बता सकता है कि इस सृष्टि का निर्माण, कहाँ से और कैसे हुआ? तब सृष्टि विषयक जिज्ञासा की शाश्वतता में कोई सन्देह नहीं रह जाता। इस जिज्ञासा के समाधान का प्रयत्न भी उतना ही प्राचीन है जितनी यह जिज्ञासा। वैदिक संहिताओं में प्रजापति (परमेश्वर) को ही इस दृष्टि का निर्माता तथा रहस्यज्ञाता माना गया है।[४]

---

[२] ऋग्वेद १/१६४

[३] ऋग्० १/१२९/६ तथा किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः। ऋक् ०१०/८१/४ तथा केनेयं भूमिर्विहिता केनोत्तभिता। अथर्ववेद १०/२/२४

[४] इयं विसृष्टिर्यतः आबभूव यदि वा दधे यदि वा न।
यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद॥ ऋग्० १०/१२९/७
ब्रह्मा... यतो द्यावा पृथिवी निष्टतक्षुः॥ वही १०/८१/५
प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्॥ अथर्व.१०/७/८

ऋग्वेद के अनुसार इस व्यक्त सृष्टि से पूर्व इस प्रकार कोई तत्त्व नहीं था जिसे "**इदमित्थम्**" (यह इस नाम रूप वाला है) कह सकते। सर्वत्र गहन अन्धकार तथा अज्ञेय सलिल सबको लीन किये हुये मूल प्रकृति थी।[५] इस प्रकार व्यक्त सृष्टि से पूर्व दो तत्त्वों प्रजापति तथा मूल प्रकृति की सत्ता थी। स्वामी दयानन्द सरस्वती ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में लिखते हैं कि "जब यह कार्य सृष्टि उत्पन्न नहीं थी, तब सर्वशक्तिमान् परमेश्वर और दूसरा जगत् का कारण अर्थात् जगत् बनाने की सामग्री विराजमान थी।[६]

प्रजापति को हिरण्यगर्भ, विराट् और पुरुष भी कहा जाता है।[७] तथा मूलप्रकृति को "असत्" भी कहा जाता है।[८] प्रजापति ने अव्यक्त मूलप्रकृति (असत्) से यह व्यक्त सृष्टि की।[९] इसी कारण वह विश्वकर्मा कहलाता

---

[५] नासदासीन्नो सदासीत् तदानीं नासीद्रजो नो व्योमा परो यत्।
न मृत्युरासीदमृतं न तर्हि न रात्र्या अह्न आसीत्प्रकेतः॥
तम आसीत्तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्॥ ऋग्०१०/१२९/१/३

[६] ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका सृष्टिविद्या विषय। स्वामी दयानन्द

[७] प्रजापतिर्वा हिरण्यगर्भः। तैत्तिरीय संहिता ५/५/१/२
हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। ऋग्० १०/१२१/१
प्रजापतिर्वा इदमग्र आसीत्। शतपथ ब्राह्मण ६/१/३/१
प्रजापतिर्वा इदमेक एवाग्र आस। ऐतरेय ब्राह्मण १०/१

[८] आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किंचनास। ऋग्०१०/१२९/२
असद् वा इदमग्र आसीत्। शत.ब्रा. ६/१/१/१
इदमग्रे नैव किञ्चन आसीन्न द्यौरासीत् न पृथिवी नान्तरिक्षं तदसदेव। तै.ब्रा. २/२०/९/१

[९] सतो बन्धुमसति निरविन्दन्। ऋग् ०१/कृ/१२९/४
सदेव सोम्येदग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्... तस्मादसतः। सज्जायते...। छन्दोग्योपनिषद्...२
प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम्। अथर्व. १०/७/८
प्रजापतिः प्रजा असृजत्। ऐत. ब्रा. १३/१२

है।[१०] सृष्टि के लिये सर्वप्रथम प्रजापति ने कामना की और तप तपा।[११] प्रजापति की कामना को ऋग्वेद में मन का रेतस् बताया गया है, जो प्रथम बीजरूप था।[१२] ब्राह्मण ग्रन्थों में भी प्रथम बीजरूप में रेतस् का ही वर्णन किया गया है, परन्तु ब्राह्मण ग्रन्थों में वर्णित रेतस् भौतिक तत्त्व के रूप में वर्णित है न की मनस् तत्त्व के रूप में। ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने उषा में रेतस् का सिञ्चन किया। सिञ्चित रेतस् एक सरोवर के रूप में एकत्रित हो गया। अग्नि ने उसे तपाया तथा वायु ने सुखाया वह रेतस् पिण्डीभूत् होकर फट गया। फटने पर उससे विभिन्न प्रकार की चिंगारियाँ निकली। इन चिंगारियों से विविध सृष्टि हुई।[१३]

कौषीतकि ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने सृष्टि की कामना से तप करके, अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और उषा को उत्पन्न किया। प्रजापति ने इन देवों से भी तप करने को कहा। जब ये देव तप कर रहे थे, तब उषा अप्सरा का रूप धारण करके आयी तो उस पर देवों का मन आसक्त हो गया। देवों ने उषा में रेतस् का सिञ्चन किया। प्रजापति ने उस रेतस् को हिरण्यचमस् में एकत्रित कर लिया। उससे सहस्र आँखों वाला और सहस्र

---

[१०] प्रजापतिः प्रजाः सृष्ट्वा विश्वकर्मा अभवत्। वही १८/८

[११] (क) तुच्छयेनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिनाजायतैकम। ऋग्० १०/१२९/३

(ख) प्रजापति प्रजापतिकामस्तपोऽतप्यत। कौषीतकि ब्राह्मण ६/१/६/१०

(ग) प्रजापतिर्वा इदमेक एवाग्र आस सोऽकामयत प्रजाजेय भूयान्स्यामिति स तपोऽतव्यत्। ऐतरेय ब्राह्मण १०/१

(घ) प्रजापतिरकामयत प्रजायेय भूयान्स्यामिति स तपोऽतप्यत्। ऐत. ब्रा. १९/१

(ङ) एक एव सोऽकामयत स्यां। शत. ब्रा. ६/१/१/१

[१२] कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्। ऋग्० १०/१२९/४

[१३] ऐतरेय ब्राह्मण १३/९

पैरों वाला देव उत्पन्न हुआ।[१४]

ऋग्वेद में कहा गया है कि सृष्टि की कामना के समय सृष्टि के कारणों की रश्मियाँ सब और फैल गयी।[१५] तैत्तिरीय ब्राह्मण में भी प्रजापति के सृष्टि कामना रूप तप के समय ज्योति उत्पन्न होने का वर्णन है।[१६] यही ज्योति तत्त्व यद्वा रश्मि तत्त्व उषा है।

हिरण्यचमस से उत्पन्न सहस्राक्ष और सहस्रपात् देव आलंकारिक रूप से प्रजापति को ही द्योतित करता है। यजुर्वेद में प्रजापति को ही सहस्रशीर्षा और सहस्राक्ष कहा गया है- **सहस्रशीर्षा पुरूषः सहस्राक्षः सहस्रपात् ...।**[१७] इस मन्त्र में स्वामी दयानन्द ने पुरुष परमात्मा को विशेष्य मानकर, अन्य सब पदों को पुरुष का विशेषण माना है।[१८] इस विवेचन से स्पष्ट है कि सृष्टि के पूर्व अव्यक्त रूप में मूल प्रकृति और प्रजापति परमेश्वर की सत्ता थी। प्रजापति ने सृष्टि के लिए कामना की जो प्रथम बीज (मनसः रेतस्) हुआ। इससे सृष्टि प्रक्रिया शुरू हुई। प्रजापति सृष्टि की कामना करते हैं। इससे सृष्टि प्रक्रिया शुरु होती है। सृष्टि की इस प्रक्रिया का संवर्धन ही एक प्रकार का यज्ञ है। प्रजापति ने सृष्टि हेतु जो तप तपा वह भी यज्ञ माना गया है। प्रतीत होता है कि प्रजापति ने सृष्टि के लिये ही यज्ञ संस्था का विकास किया था और स्वयं भी यज्ञ रूप हो गया था- **यज्ञो वै प्रजापति।**[१९] सृष्टि का

---

[१४] कौषीतकि ब्रा० ६/१

[१५] तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरिस्विदासीत। ऋग्०१/१२९/५

[१६] तैत्तिरीय ब्राह्मण २/२/९/१/३

[१७] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन संहिता ३१/१

[१८] द्र. ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, सृष्टिविद्या विषय।

[१९] (क) यज्ञो वै प्रजापतिः। कौ. ब्रा. १०/१; १३/१ ऐत. ब्रा. १९/४
(ख) एष वै प्रजापतिर्य एष यज्ञस्तायते। शत.ब्रा. ४/२/४/१६

मूलाधार यज्ञ ही है।[२०] ब्राह्मण साहित्य में वर्णित यज्ञ सृष्टि प्रक्रिया का प्रतीकात्मक रूप से प्रतिपादन करता हैं।

कौषीतकि ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने सृष्टि-यज्ञ का निर्माण किया। उसने अग्न्याधेय से रेतस् को उत्पन्न किया। अग्निहोत्र से देवताओं, मनुष्यों और असुरों को उत्पन्न किया तथा दर्शपूर्णमास के इन्द्र को। यज्ञों से ही अन्न-पान उत्पन्न किये, अन्न को आग्रायण यज्ञ से उत्पन्न किया। इनके अतिरिक्त जिन-जिन वस्तुओं की कामना की उन सबको यज्ञों से ही प्राप्त किया।[२१]

ऐतरेय ब्राह्मण के अनुसार प्रजापति ने प्रजा की उत्पत्ति वैश्वदेव नामक यज्ञ के की।[२२] इसी ग्रन्थ में अन्यत्र कहा गया है कि प्रजापति ने यज्ञ का सृजन किया। यज्ञ सृजन के बाद उससे ब्रह्मन् और क्षत्र का सृजन हुआ, इनसे दो प्रकार की प्रजा उत्पन्न हुई - (क) **हुतादः**- सोमरस पान के अधिकारी तथा (ख) **अहुतादः**- सोमरस पान के अनधिकारी। **हुतादः** ब्रह्मण थे और **अहुतादः** क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र थे।[२३] इस प्रकार ब्राह्मणग्रन्थों में सृष्टि प्रजापति तथा यज्ञ द्वारा बतायी गयी है। प्रजापति से

---

[२०] यज्ञो, प्रजा.... अन्ततो यज्ञस्येमाः प्रजा प्रजायन्ते। वही १/९/१/५

[२१] प्रजापतिर्ह यज्ञं ससृजे सोऽग्न्याधेयनैव रेतोऽसृजत्। देवान् मनुष्यान सुरानिति-अग्निहोत्रेण।
दर्शपूर्णमासाभ्यामिन्द्रमसृजत। तेभ्य ईतदन्नपानं ससृज ..... अथो यं यं काममैऋचछस्तं इतैरयनैरापुः। अन्याद्यामाग्रायणेन। कौ.ब्रा. ६/१५

[२२] वैश्वेवेन वै प्रजापतिः प्रजा असृजत्। ऐत.ब्रा.५/३

[२३] प्रजापति यज्ञमसृजत यज्ञं सृष्टमनु ब्रह्मक्षत्रे असूज्येतामम्, ब्रह्मक्षत्रे अनुद्वययः प्रजा असृज्यन्त हुतादश्च अहुतादश्चः ब्रह्मैवाने हुतादः क्षत्रमनुञ्अहुताद एता वै प्रजा हुतादो यद् ब्राहमनणा अथैता अगुतादो यद् राजन्यो वैश्यः शूद्रः। ऐत. ब्रा. ३४/१

सृष्टिसम्बन्धी ईक्षण से सर्वप्रथम पृथिवी लोक की उत्पत्ति हुई। तदनन्तर अन्तरिक्ष लोक की उत्पत्ति। इन दोनों के बाद हुई।[२४] उक्त तीनों लोकों की सृष्टि के बाद प्रजापति ने अन्य सब पदार्थों की सृष्टि की।[२५]

प्रजापति ने पृथिवी से अग्नि, अन्तरिक्ष से वायु, द्युलोक से आदित्य की सृष्टि की। इसके बाद अग्नि से ऋग्वेद, वायु से यजुर्वेद तथा आदित्य से सामवेद की सृष्टि हुई। इन तीन वेदों से तीन व्याहृतियाँ उत्पन्न हुईं। ऋग्वेद से भूः, यजुर्वेद से भुवः, सामवेद से स्वः। पुनः तीन व्याहृतियों से क्रमशः अ, उ तथा म्, ये तीन वर्ण उत्पन्न हुये। प्रजापति ने इन तीन वर्णों का संयोग किया, तब ओम् (प्रणव) की उत्पत्ति हुई।[२६] ऐतरेय ब्राह्मण में पृथिवी से अग्नि की उत्पत्ति सर्वप्रथम बतायी गयी है।[२७] जब पृथिवी का निर्माण हुआ उस समय पृथिवी पर कुछ भी नहीं था। यह वनस्पतियों से भी रहित थी। बाद में पृथिवी पर ओषधियों और वनस्पतियों की उत्पत्ति हुई।[२८] तदन्तर प्राणियों की उत्पत्ति हुई। प्रजापति ने सृष्टि की कामना से तप करके पृथिवी लोक का संवर्धन प्राणों से किया।[२९] इसका भाव यही है कि प्राणियों की उत्पत्ति द्वारा ही इस लोक की वृद्धि हुई।

---

[२४] स तपस्तप्त्वेमाँल्लोकानसृजत-पृथिवीमन्तरिक्षं दिवम्। वही २५/७

[२५] इमान्वै लोकान् प्रजापतिः सृष्ट्वेदं सर्वमशक्नोद् यदिदं किञ्च। वही २२/२

[२६] ऐत.ब्रा. २५/७, कौ.ब्रा. ६/१०, तै.ब्रा. २/२/४/२, शत.ब्रा. २/१/४/११

[२७] ऐत. ब्रा. २५/७

[२८] अलौमिकेवाग्र आसीत् सैतं मन्त्रामपश्यदाऽयं गौः पृशनिरक्रमीदिति तामयं पृश्निवर्ण आविन्नानारूपो यं यं काममकामयत, यदिदं किञ्चौषधयो वनस्पतयः सर्वाणि रूपाणि। वही २४/४

[२९] प्रजापतिस्तपोऽप्यत स तपस्तप्त्वा प्राणादेवेमं लोकं प्बृहद् .....। कौ.ब्रा. ६/१०

यज्ञ में प्रयुक्त अग्नि को पुरुष तथा सोम को स्त्री का प्रतीक माना गया है। ऐतरेय ब्राह्मण में पुरुष और स्त्री के मिथुनीभाव का स्पष्ट उल्लेख है।[३०] यज्ञों के अवसर पर भी प्रजा उत्पत्ति के लिये मिथुन प्रक्रिया की चर्चा अनेकशः हुई है।[३१] ऐतरेय ब्राह्मण में अन्तरिक्ष और द्युलोक से सम्बन्धित तत्त्वों की सृष्टि के विवेचन में स्थूल पदार्थों का सूक्ष्म में पर्यवसान तथा पुनः उन सूक्ष्म पदार्थों के स्थूल की सृष्टि बतायी गयी है। इसके अनुसार विद्युत् का वृष्टि में, वृष्टि का चन्द्रमा में, चन्द्रमा का आदित्य और अग्नि में तथा अग्नि का वायु में पर्यवसान हो जाता है। पुनः इनकी सृष्टि होती है- वायु से अग्नि, अग्नि से आदित्य, आदित्य से चन्द्रमा, चन्द्रमा से वृष्टि तथा वृष्टि से विद्युत् की सृष्टि होती है।[३२] इस प्रकार ऐतरेय ब्राह्मण में सृष्टिविद्या विषयक दार्शनिक चिन्तन की गम्भीर विचेचना की गई है।

---

[३०] तस्मात् स्त्यूरू विहरति समस्यात्युत्तरपदद्दे तस्मात् पुमान् ऊरू समस्यति तन्मिथुनं मिथुनमेव तदुक्थमुखे करोति। ऐत.ब्रा. १०/३

[३१] कौ.ब्रा. ३/९/ इत्यादि।

[३२] ऐत.ब्रा. ४०/५

ऐतरेय ब्राह्मण में निर्वचन विद्या

डॉ० अभिमन्यु[१]

मनुष्य के समस्त ऐहिक कार्यकलाप और पारलौकिक अभ्युदय भाषा के बिना असम्भव हैं। आदिम काल से ही मानव अपने संघर्ष यात्रा में अपने अनुभवों के द्वारा जिन बहुमूल्य रत्नों को प्राप्त कर सका, उन्हें उसे अपने और आने वाली पीढ़ियों के लिए बहुमूल्य समझकर शब्द रूपी शाश्वत मञ्जूषा में सम्भाल कर रखा है[२] और इस वाङ्मञ्जूषा में सञ्चित अनुभव रत्न राशि प्रयोगार्ह तथा व्यावहार्य होने पर नष्ट नहीं होती अपितु उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती है। वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, वेदाङ्ग, दर्शन, स्मृतियाँ, पुराण, काव्य और इन सब पर टीका-प्रटीका आदि समस्त वाङ्मय इसके ज्वलन्त निदर्शन हैं। किन्तु लौकिक संस्कृत की अपेक्षा वैदिक वाङ्मय की भाषा अत्यन्त क्लिष्ट, गहन और विस्तृत है। विद्वानों की तुलना के अनुसार तो वैदिक भाषा "अकूपार" है और लौकिक संस्कृत "गोष्पद"

[१] **सहायकाचार्य, संस्कृत विभाग, कला संकाय, डी ई आई (डीम्ड विश्वविद्यालय) दयालबाग, आगरा- २८२००५**

[२] अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भाषते। वाक्य. १/१२३

है।[३] ऋषियों के लिए यह भाषा समुद्र भी दैनन्दिन प्रयोग के कारण परिचित होने से सहज स्वाभाविक और सरल था तथा उसमें निर्भीक स्वेच्छा विहार करते थे। परिणामतः उन्हें उस भाषा के विश्लेषण की पहले तो आवश्यकता ही नहीं प्रतीत हुई और यदि पड़ी भी तो बहुत सामान्य थी, परन्तु समय-चक्र जैसे-जैसे आगे बढ़ा, आने वाली पीढ़ियां अपनी विजय यात्रा पर चलते चलते भाषा, भाव, संस्कार और परिस्थितियों में अपने पूर्वजों से दूर होती चली गईं। एक समय आया कि इन पीढ़ियों को अपने पूर्वजों से प्राप्त भाषा को समझने में कष्ट होने लगा। फलतः अपने पूर्वजों के प्रति कृतज्ञ मनीषियों ने इस समस्या को भलीभांति जाना और ऐसी व्यवस्था की कि आने वाली अनन्त पीढ़ियों तक यह शब्द राशि निर्विघ्न पहुंच सके। श्रेष्ठ मनीषियों का यह प्रयास एक दो पीढ़ी की देन नहीं, अपितु अनेक पीढ़ियों के सतत प्रयास का मीठा फल है, जिसे आज हम निरुक्त शास्त्र और व्याकरण शास्त्र के रूप में जानते हैं। प्राकृतिक स्थल पर ऐतरेय ब्राह्मण में प्राप्त है निर्वचनों का उल्लेख करना है।

ऋषियों ने ध्वनि समूहों को आधार बनाकर उनसे अनेक शब्दों का प्रयोग किया। उन स्थलों का सूक्ष्मता पूर्वक अध्ययन और विश्लेषण कर यह निष्कर्ष निकाला कि ये आधारभूत ध्वनि किसी क्रिया विशेष को प्रकट

[३] न दृष्ट इति वैयासे शब्दे मा संशयं कृथाः।
अज्ञैरज्ञातमित्येव पदं न हि न विद्यते॥
यान्युज्जहार माहेन्द्राद् व्यासो व्याकरणार्णवत्।
पदरत्नानि किं तानि सन्ति पाणिनिगोष्पदे॥ (द्र. देवबोध, महाभारतटीका, प्रारम्भ ७-८)

करने वाले शब्दों में ही प्रयुक्त हैं और ये शब्द कुछ विकारों और रूप परिवर्तनों के साथ कभी तो क्रिया को प्रधान और गौण रूप में या कभी किसी द्रव्य की विशेषता को बतलाते हैं। जैसे अर्किणः का अर्क से[४], मघ का महते क्रियापद से[५], यज्ञ का अयजन्त से[६], सहस् का सहन्ते से[७], अश्विनौ का अश्नन्तौ से[८] ऋत्विज् का ऋतु यजाति से[९], धान्य का धिनुहि से[१०], पवित्र का येन पुनते से[११], नदी का अनदत से[१२], अप् का आप्नोत् से[१३], वाः = वार् – वारि – अवीवरत् से[१४], उदकम् – उदानिषुः – उत् आनिषुः से[१५], तीर्थ का तरन्ति से[१६], सर्पिः का असर्पत् से[१७], नवनीत का नवं नीतम् से[१८] बहुत निकट का सम्बन्ध है। इस प्रवृत्ति का विकास उत्तरोत्तर वैदिक ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

---

[४] ऋग्वेद, १/७/१

[५] वही, १/११/१३

[६] वही, १/१६४/५०

[७] वही, ६/६६/९

[८] वही, ८/५/३१

[९] वही, १०/२/५

[१०] वाजसनेय संहिता, १/२०

[११] सामवेद उ., ५/२/८/५

[१२] अथर्ववेद, ३/१३/१

[१३] वही, ३/१३/२

[१४] वही, ३/१३/२

[१५] वही, ३/१३/१४

[१६] वही, १८/४/१७

[१७] तै. सं., २/३/१०/१, काठक सं., ११/७, मैत्रा. सं., २/३/४

[१८] तै. सं., २/३/१०/१, मैत्रा. सं.,२/३/४

यह स्वभाविक ही है कि ब्राह्मणग्रन्थों के आचार्यों ने अपने विषय के अनुरूप शब्दों का विषय के अनुकूल ही निर्वचन किया है। ऋग्वेद संहिता के ब्राह्मणों में ऋग्वेद से सम्बद्ध ऋषियों, देवताओं और होता नामक ऋत्विज् से सम्बद्ध शब्दों का निर्वचन किया गया है। यजुर्वेद से सम्बद्ध ब्राह्मणों में यज्ञों, यज्ञपात्रों तथा कर्मकाण्ड के लिये उपयोगी अन्य वस्तुओं के नाम पदों का निर्वचन किया गया है। सामवेद के ब्राह्मणों में छन्दों का ही विशेष रूप से अध्ययन किया गया है। अथर्ववेद के ब्राह्मण गोपथ में तथा यजुर्वेद के ब्राह्मण शतपथ में बहुत से सम्बद्ध विषयमात्र से भिन्न शब्दों का भी निर्वचन किया गया है। इसी प्रकार आरण्यकों और उपनिषदों में भी उनसे सम्बद्ध पदों का उपासना और ज्ञानकाण्ड के परिवेश में दार्शनिक अर्थ में निर्वचन किया गया है, क्योंकि वे शब्द उस साहित्य में दार्शनिक अर्थ में ही प्रयुक्त हुए हैं। यही कारण है कि सामन्, ऋक् और गायत्री जैसे अन्यत्र अन्यथा व्याख्यात शब्दों का भी इस साहित्य में दार्शनिक अर्थ ही किया गया है।[१९] पं. शिवनारायण शास्त्री का मानना है कि अद्य पर्यन्त उपलब्ध वैदिक साहित्य में कम से कम ८३३ निर्वचन उपलब्ध होते हैं[२०]।

टीकाकरों ने निर्वचनीय शब्दों के तीन भेद किये हैं - (१) प्रत्यक्षवृत्ति या प्रत्यक्षक्रियः (२) परोक्षवृत्ति या परोक्षक्रियः (३) अतिपरोक्षवृत्ति या अतिपरोक्षक्रियः[२१]। ब्राह्मणग्रन्थों में अन्तिम दो प्रकार के निर्वचनों का उल्लेख अधिक प्राप्त होता है। अर्थात् शब्द पहले किसी ऐसे रूप में रहता है, जिसे सब समझते हैं, फ़िर धीरे-धीरे उस शब्द में कुछ ऐसे विकार आ

---

[१९] द्र. दी वैदिक एटिमालॉजी, डॉ. फतह सिंह, भूमिका, पृ. a-b

[२०] निरुक्त मीमांसा, पृ. ४

[२१] त्रिविधा हि शब्दव्यवस्था – प्रत्यक्षवृत्तयः, परोक्षवृत्तयोऽतिपरोक्षवृत्तयश्च। तत्रोत्कटक्रियाः प्रत्यक्षवृत्तयः। अन्तर्लीनक्रियाः परोक्षवृत्तयः। निरुक्त, दुर्ग टीका, १/१

जाते हैं कि नवविकसित रूप में उसका पुराना रूप ओझल= परोक्ष हो जाता है। जैसे-

१. **मा-दुष = मानुष – ते देवा अब्रुवन्, मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति, यदब्रुवन्, मेदं प्रजापते रेतो दुषदिति, तन्मादुषमभवत्, तन्मादुषस्य मादुषत्वं, मादुषं ह वै नामैतद् यन्मानुषं तन्मादुषं सन्मानुषमित्याचक्षते परोक्षेण, परोक्षप्रिया इव हि देवाः।**[२२]

अर्थात् देवों ने कहा कि – प्रजापति का यह वीर्य दूषित न हो- "**मा दुषद्, दुष्टमस्पृश्यं मा भूदिति**"। अतः यह मादुष अर्थात् दोषरहित हुआ, इसलिये इसका नाम मादुष हुआ। वह मादुष का मादुषत्व है (मादुषपना है) यह जो 'मादुष' (दोषरहित) नाम था वही 'मानुषम्' हुआ। (वस्तुतः दैव आचरण के द्वारा दोषरहित होने से) वह मादुष ही (अपने नाम के योग्य उस शरीर का) परोक्ष रूप से (नाम व्यवहृत हो इस अभिप्राय से एवं वर्णव्यत्यय से) 'मानुषम्' इस नाम से अभिहित हुआ; क्योंकि देव परोक्षप्रिय होते हैं। इसमें 'मा दुषत्' को प्रत्यक्षवृत्ति, 'मादुष' को परोक्षवृत्ति और 'मानुष' को अतिपरोक्षवृत्ति शब्द कह सकते हैं।

२. **अग्नि-स्तोम= अग्नि-ष्टोम - स वा एषोऽग्निरेव यदग्निष्टोमः, तं यदस्तुवंस्तस्मादग्निस्तोमः, तमग्निस्तोमं सन्तमग्निष्टोम इत्याचक्षते परोक्षेण, परोक्षप्रिया इव हि देवाः**[२३]। अर्थात् जो अग्निष्टोम है वह साक्षात् अग्नि ही है; उस (क्रतु रूप) अग्नि की देवों ने स्तुति की, इसीलिये उसका 'अग्निस्तोम' नाम हुआ। अग्निस्तोम होते हुए उस (नाम से युक्त क्रतु) को परोक्ष रूप से (व्यवहार के लिये वैदिक सकार-तकार का षकार-टकार रूप

---

[२२] ऐत. ब्रा., ३/३३

[२३] ऐत. ब्रा. ३/४३

वर्णान्तर करके) 'अग्निष्टोम' नाम से पुकारते हैं; क्योंकि देव तो परोक्षप्रिय ही होते हैं।

३. **चतुः-स्तोम=चतुष्टोम – तं यच्चतुष्टया देवाश्चतुर्भिः स्तोमैरस्तुवंस्तस्माच्च्तुस्तोमस्तं चतुस्तोमं सन्तं चतुष्टोम इत्याचक्षते परोक्षेण, परोक्षप्रिया इव हि देवाः**[२४]**।** अर्थात् चतुर्विध देवों ने जो चार स्तोमों से स्तुति की, इसीलिये इसका 'चतुः-स्तोम' नाम हुआ। चतुस्तोम होते हुए उसको परोक्ष रूप से 'चतुष्टोम' नाम से पुकारते हैं; क्योंकि देव तो परोक्षप्रिय ही होते हैं।

४. **ज्योति-स्तोम=ज्योतिष्टोम – अथ यदेनमूर्ध्वं सन्तं ज्योतिर्भूतमस्तुवंस्तस्माज्ज्योतिस्तोमस्तं ज्योतिस्तोमं सन्तं ज्योतिष्टोम इत्याचक्षते परोक्षेण, परोक्षप्रिया इव हि देवाः**[२५]**।** अर्थात् अब जो इस अग्नि को (भूमि से लेकर द्युलोकपर्यन्त) ऊर्ध्वावस्थित (तथा प्रकाशमान होने से) ज्योतिर्भूत देवों ने स्तुति की, इसीलिये उसका नाम् 'ज्योतिस्तोम' (अर्थात् ज्योतिःपुञ्ज की स्तुति) नाम हुआ। ज्योतिस्तोम होते हुए उसको परोक्ष रूप से (वर्णान्तर करके) 'ज्योतिष्टोम' नाम से पुकारते हैं; क्योंकि देव तो परोक्षप्रिय ही होते हैं।

५. **न्यक्-रोह-न्यग्रोह = न्यग्रोध – ते यन्न्यञ्चोऽरोहंस्तस्मान्न्यङ् रोहति न्यग्रोहः। न्यग्रोहो वै नाम तत्। न्यग्रोहं सन्तं न्यग्रोध इत्याचक्षते परोक्षेण**[२६]**।** अर्थात् वे (यज्ञपात्र) जो नीचे की ओर उगे, इसीलिये न्यग्रोह नीचे की ओर उगता है। न्यग्रोह नामक है वह। न्यग्रोह होते हुए को परोक्षरूप से न्यग्रोध कहते हैं।

---

[२४] वही. ३/४३

[२५] वही. ३/४३

[२६] वही. ७/३०

निर्वचन का एक द्वितीय प्रकार इस प्रकार प्राप्त होता है–कि निर्वचनीय शब्द को ऐसा क्यों कहते हैं? अर्थात् पहले प्रश्न करना फ़िर उसका निर्वचन करना। ऐतरेय ब्राह्मण में ऐसे निर्वचनीय पद भी प्राप्त होते हैं। जैसे –

१. **होता – तदाहुर्यदन्यो जुहोत्यथ योऽनु चाऽऽह यजति च कस्मात् तं होतेत्याचक्षत इति। यद्वाव स तत्र यथाभाजनं देवता अमुमावहामुमावहेत्यावाहयति तदेव होतुर्होतृत्वं होता भवति।**[२७]

अर्थात् जब आहुति देने वाला (होता से) दूसरा अर्थात् 'अध्वर्यु' कहलाता है तो अनुवाक्या एवं यज्या मन्त्रों को पढने वाले को (यष्टा न कह कर) 'होता' नाम से क्यों पुकारा जाता है? क्यों कि वह सभी देवताओं को यथास्थान यह कहकर बुलाता है कि 'अमुक् (अग्नि) को बुलाओ', 'अमुक (सोम) को बुलाओ'। इसीलिये 'होता' का होतृत्व होने से 'होता' यह नाम निष्पन्न है। (याज्ञिक लोग) इस प्रकार जानने वाले उस (आह्वाता) को 'होता' इस नाम से पुकारते हैं।

इस शैली का पल्लवन यास्कीय निरुक्त में अधिक मिलता है। यथा – निघण्टु कैसे हैं?[२८] वाक् कैसे हैं?[२९] कर्म कैसे हैं?[३०] नदियाँ कैसे हैं?[३१] इत्यादि प्रश्न करके प्रश्न के उत्तर के रूप में निर्वचन किया गया है।

२. **इष्टि – यज्ञो वै देवेभ्य उदक्रामत् तमिष्टिभिः प्रैषमैच्छन्यदिष्टिभिः प्रैषमैच्छंस्तदिष्टीनामिष्टित्वं तमन्वविन्दन्**[३२]। अर्थात्

---

[२७] वही. १/२

[२८] निघण्टवः कस्मात्? नि. १/१

[२९] वाक् कस्मात्? वही. २/२३

[३०] कर्म कस्मात्? वही. ३/१

[३१] नद्यः कस्मात्? वही. २/४

[३२] ऐत. ब्रा. १/२

यज्ञ देवों के पास चला गया। उस (यज्ञ) को दीक्षणीया और प्रायणीयादि इष्टियों द्वारा उन्होंने खोजना चाहा। इष्टियों का इष्टित्व इसीलिये है कि उन्होंने इनके द्वारा यज्ञ को खोजने की इच्छा की। उन्होंने उस (यज्ञ) को पा लिया।

३. **आहुति – आहुतयो वै नामैता यदाहुतय एताभिर्वै देवान् यजमानो ह्वयति तदाहुतीनामाहुतित्वम्**[३३] **।** अर्थात् वस्तुतः (दीर्घ ऊ वाले) 'आहूति' (= बुलाना) को (ह्रस्व उ वाला) 'आहुति' कहते हैं। क्योंकि इसके द्वारा यजमान देवताओं को बुलाते हैं। यही आहुतियों का आहूतित्व है।

४. **ऊति – ऊतयः खलु वै ता नाम याभिर्देवा यजमानस्य हवमायन्ति, ये वै पन्थानो याः स्रुतयस्ता वा ऊतयस्त उ एवैतत्स्वर्गयाणा यजमानस्य भवन्ति**[३४] **।** अर्थात् (इष्टि और आहुतियाँ मिलकर) ये ऊतियाँ (=रास्ते) हैं, क्योंकि इन्हीं के द्वारा देवता यजमान के बुलाने पर आते हैं। जो कोई भी (इष्टि रूप स्वर्ग के) मार्ग हैं और जो (उस मार्ग की अवयव रूप) आहुतियाँ हैं ये द्विविध रास्ते ऊतियाँ कही गयी हैं। इस प्रकार निश्चय ही वे यजमान की स्वर्ग प्रापक (अर्थात् स्वर्ग तक पहुँचाने की मार्गस्वरूप) होती हैं। (प्रस्तुत स्थल पर 'आहुति' अर्थात् होम और 'आहूति' आह्वान है। दोनों शब्दों की समानता दिखलाई गई है अर्थात् हवन में आहुति देना मानों देवों को बुलाना है।)

५. **प्रैष – यज्ञो वै देवेभ्य उदक्रामत्, तं प्रैषैः प्रैषमैच्छन्, यत् प्रैषमैच्छंस्तत्प्रैषाणां प्रैषत्वम्**[३५]**।** अर्थात् यज्ञ देवोम् के पास चला गया।

---

[३३] वही. १/२

[३४] वही. १/२

[३५] वही. ११/९

उन्होनें उनको 'प्रैष' मन्त्रों से बुलाना चाहा; क्योंकि 'प्रैष' मन्त्रों से बुलाना चाहा अतः यही 'प्रैष' नाम का कारण है ।

६. **पुरोरुक् – तं पुरोरुग्भिः प्रारोचयन्, यत् पुरोरुग्भिः प्रारोचयंस्तत्पुरोरुचां पुरोरुक्त्वम्**[३६]**।** अर्थात् उसको पुरोरुक् मन्त्रों ('वायुरग्रे' आदि) से उन्होनें प्रदीप्त किया; क्योंकि पुरोरुक् मन्त्रों से उन्होनें चमकाया इसीलिये इनको पुरोरुक् कहते हैं।

७. **वेदि – तं वेद्यामन्वविन्दन्, यद् वेद्यामन्वविन्दंस्तद् वेदेर्वेदित्वम्**[३७]**।** अर्थात् उन्होंने उसको (सौमिक) वेदि पर प्राप्त किया; क्योंकि उन्होंने वेदि पर प्राप्त किया अतः यही 'वेदि' के नाम का कारण है।

८. **वेनः = नाभिः – वेनोऽस्माद्वा ऊर्ध्वा अन्ये प्राणा वेनन्त्यवाञ्चोऽन्ये तस्माद्वेनः प्राणो वा अयं सन्नाभेरिति (न अभेः अभैषीः) तस्मान्नाभिस्तन्नाभेर्नाभित्वं प्राणमेवास्मिंस्तद् दधाति**।[३८] अर्थात् ('अयं वेनश्चोदयत् पृश्निगर्भा' जब इस मन्त्र का पाठ किया जाता है तब 'अयं' शब्द से होता है, नाभि की ओर संकेत करता है। वेन शब्द नाभि के अभिप्रेत से प्रयुक्त है।) इस (नाभि) से चक्षु आदि कुछ प्राण (= इन्द्रियाँ) ऊपर की ओर हैं और कुच नीचे की ओर हैं। इसीलिये वेन शब्द का अर्थ नाभि है और यह नाभि प्राण को धारण करने के कारण स्वयं प्राण रूप है। अतः इसे नाभि कहते हैं। यही नाभि का नाभित्व है। वस्तुतः ऐसा करके होता प्रवर्ग्य में प्राण को स्थापित करता है।

ऐतरेय ब्राह्मण के निर्वचनीय पदों में एक अन्तर और दिखाई देता है

---

[३६] वही. ११/९

[३७] वही. ११/९

[३८] वही. ४/३

– कि पद विशेष के निर्वचन के साथ ही उसके पर्यायवाची पद का भी निर्वचन प्रस्तुत कर दिया गया है। जैसे – नाभि, सिमा आदि। ऐतरेयारण्यक में 'महानाम्नी' कुछ ऋचाओं की पारिभाषिक संज्ञा है[३९]। 'सिमा' उनका ही नामान्तर है। ऐतरेय ब्राह्मण में 'महानाम्नी' पद का निर्वचन दिया तो उसके बाद 'सिमा' का भी निर्वचन दिया है[४०]। इस प्रवृत्ति का भी उपबृंहण यास्कीय निरुक्त में अधिक मिलता है।

आचार्य सायण ने भी अपने ऐतरेय ब्राह्मण के व्याख्यान में भी अनेक शब्दों के निर्वचन प्रस्तुत किये हैं। जैसे-

१. **अप्रतिवादिनी – पत्युः प्रविकलं वदतीति प्रतिवादिनी तद्विपर्येणानुकूलवादिनी**[४१]**।**
२. **अनिलया – एषः वायुः कदाचिदपि नेलयति इलयतिर्गतिकर्मा। नेलयति न गच्छतीति नहि किन्तु सदा गच्छत्येव। अमुमर्थं निलयेति शब्दो ब्रूते। निलयो निवासः स नास्ति यस्या वायुमूर्तेः सेयमनिलया**[४२]**।**
३. **आज्य – आ समन्ताद् जयन्त्येभिरिति व्युत्पत्त्या शस्त्राणामाज्यनामसम्पन्नम्**[४३]**।**

---

[३९] ये ऋचायें ९ हैं तथा ऐतरेयारण्यक (४/१) में 'विदा मघवन्' से 'नूनं तं ... अद्वया' तक दी हैं।

[४०] इन्द्रो वा एताभिर्महानामात्मानं निरमिमीत तस्मान्महानाम्न्यः। ..... ता ऊर्ध्वा सीम्नोऽभ्यसृजत। यदूर्ध्वाः सीम्नोऽभ्यसृजत, तत्सिमा अभवन्। तत्सिमानां सिमात्वम्। ऐत. ब्रा. २२/२

[४१] सायणीयनिरुक्तिकोष, पृ.२१७

[४२] वही, पृ. २१४

[४३] वही, पृ. २२३

४. ऋतसत् – ऋतं सत्यवदनं वेदवाक्यं तत्र सीदति प्रतिपाद्यत इति ऋतसत्[४४]।

५. ओकःसारी – ओकांसि स्थानानि गृहाणि तेषु सरति सर्वदा संचरतीत्योकःसारी मार्जारः[४५]।

६. तनूनपात् – तनूं शरीरं न पातयति इति तनूनपात्[४६]।

७. पराङ् – परं बाह्यं दूरदेशमञ्चति गच्छति इति पराङ् (प्राणवायुः)[४७]।

८. प्रशास्ता – प्रकर्षेण सर्वानृत्विजः शास्ति प्रैषमन्त्रेण तत्तद्व्यापारे प्रवर्तयति इति प्रशास्ता मैत्रावरुणः[४८]।

९. बर्हिषद् – बर्हिषि दर्भे सीदन्त्युपविशन्ति इति बर्हिषदः पितरः[४९]।

१०. सहस्राश्वीनः – प्रबलोऽश्वः एकेनाह्ना यावन्ति योजनानि गच्छति तावद्योजनपरिमितो देशो आश्वीनः। स च सहस्रसंख्यया गुणितः सहस्राश्वीनः[५०]।

प्रस्तुत निर्वचन केवल उपलक्षणमात्र हैं। उपर्युक्त पर्यालोचन के आधार पर निम्नलिखित तथ्य प्रकट होते हैं-

१. निर्वचन के बाद लोकमत बताना। जैसे – मानुष, अग्निष्टोम,

---

[४४] वही, पृ. २३२

[४५] वही, पृ. २३२

[४६] वही, पृ. २४१

[४७] वही, पृ. २५३

[४८] वही, पृ. २५९

[४९] वही, पृ. २६३

[५०] वही, पृ. २८८

न्यग्रोध आदि के निर्वचन।

२. प्रसक्तानुप्रसक्त शब्दों का निर्वचन अर्थात् पदविशेष के निर्वचन के साथ पर्यायवाची पद का भी निर्वचन कर देना। जैसे – सिमा, नाभि आदि।

३. नाम पड़ने के कारण को भलिभाँति, कथा आदि की यदि अपेक्षा है तो उसके साथ स्पष्ट कर हेतुवाचक शब्द का प्रयोग करते हुए निर्वचन करना या निर्वचनीय पद को षष्ठी में देकर 'त्व' प्रत्यय के साथ दिया है।

पं. शिवनारायण शास्त्री का मानना है कि ब्राह्मणान्तर्गत निर्वचनों का स्तर ऋग्वेदादि संहिताओं के निर्वचनों से बहुत हल्का है। इनमें ब्राह्मणकारों की (धर्म, कर्मकाण्ड, सृष्टिविद्यादि विषयक) रुढियाँ इतनी प्रबल हो गईं कि भाषाशास्त्रीय अंश उभर नहीं पाया। ब्राह्मणगत निर्वचनों से हम वैसा भाषाशास्त्रीय तादात्म्य नहीं स्थापित कर पाते, जैसा ऋग्वेद संहिता के निर्वचनों से सहज हो जाता है। इसमें बहुत बड़ा कारण एक तो ब्राह्मणों की शैली है, दूसरा कारण है ब्राह्मणों की रुढियों की पृष्ठभूमि से हमारा परिचित न होना। शब्द उपरी तौर पर (ध्वनियों तथा अर्थ की दृष्टि से) तो वही है, पर उनका प्रतिकात्मक परिवेश बदला हुआ है।[५१] तथापि ब्राह्मणग्रन्थों में प्राप्त निर्वचन अपने प्रतिपाद्य विषय को सुतराम् परिपुष्ट करते हैं, जिससे यह सिद्ध होता है कि निर्वचन प्रक्रिया का महत्व उस समय तक पर्याप्त बढ़ चुका था तथा सब क्षेत्रों में उसका महत्व स्वीकृत हो चुका था।

[५१] निरुक्त मीमांसा, पृ. २१९-२२०

ऐतरेय ब्राह्मणान्तर्गत अग्निष्टोम याग

डॉ० विनोद कुमार[१]

वैदिक वाङ्मय में वैदिक संहिताओं के ही समान ब्राह्मण ग्रन्थों को भी महत्व प्राप्त है। कतिपय विद्वान् इन्हें वेदों का अंशतः व्याख्यान ग्रन्थ मानते हैं जबकि कुछ विद्वान् "**मंत्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्**"[२] कहकर इन्हें वेद से अभिन्न या वेदपदवाच्य घोषित करते हैं। आजकल चारो संहिताओं के १७ ब्राह्मणग्रन्थ उपलब्ध होते हैं जिनमें ऋग्वेद के दो ब्राह्मणग्रन्थ हैं -ऐतरेय ब्राह्मण तथा दूसरा शांखायन ब्राह्मण जिसे कौषीतकि ब्राह्मण के नाम से भी जाना जाता है।[३] इन दोनों में भी विद्वत् समुदाय ऐतरेय ब्राह्मण को ही अधिक प्राचीन मानता है। ऋषिपत्नी इतरा के पुत्र ऐतरेय महिदास ने इस ब्राह्मणग्रन्थ की रचना की है। अत एव उन्ही के नाम से इस ग्रन्थ को ऐतरेय ब्राह्मण कहा जाता है। इसका प्रतिपाद्य विषय मुख्यतः सोमयाग है।

प्रधानतया याग तीन प्रकार के माने जाते हैं -१. इष्टि, २. होम, ३. सोम। ये तीनों हवि, पाक एवं सोम संस्थाओं के भेद से सात-सात प्रकार के हो जाते हैं[४] जिन्हें निम्नलिखित रेखाचित्र के द्वारा दर्शाया जा सकता है-

---

[१] **सहायक आचार्य, राजकीय महिला स्नातकोत्तर महाविद्यालय, काँधला**

[२] तन्त्रवार्तिक १/३/१०

[३] सम्स्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास, प्रथम खण्ड, पृ. ३७५-४४०

[४] ऐतरेयालोचनम्, सत्यव्रत सामश्रमी, पृ.११०

याग

१. इष्टि	**२.होम**	**३.सोम**
१. अग्न्याधेय	सायंहोम	अग्निष्टोम
२. अग्निहोत्र	प्रातर्होम	अत्यग्निष्टोम
३. दर्श	स्थालीपाक	उक्थ्य
४. पौर्णमास	नवयज्ञ	षोडशी
५. आग्रयण	वैश्वदेव	वाजपेय
६. चातुर्मास्य	पितृयज्ञ	अतिरात्र
७. पशुबन्ध	अष्टक	आप्तोर्याम

उल्लेखनीय है कि प्रकृति एवं विकृतिमय समस्त सोमयागों को पुनः तीन भागों में विभाजित किया जाता है जो कि निम्नलिखित हैं-

१. एकाह यज्ञ - अग्निष्टोम तथा अन्य सोमयज्ञ एकाह कहे जाते हैं। इन यज्ञों में प्रातःसवन, माध्यन्दिन सवन और सायंसवन में एक ही दिन में तीन बार सोमरस का पान किया जाता है।

२. अहीन यज्ञ - इन यज्ञों का संपादन १२ दिनों तक किया जाता है। इनकी समाप्ति पर अतिरात्र यज्ञ करने का विधान है। दीक्षा और उपसद कृत्यों के दिनों को यदि इसमें सम्मिलित कर लिया जाए तो इसकी अवधि एक मास हो जाती है।

३. सत्रयज्ञ - ऐसे यज्ञ को सत्र कहा जाता है जो दीर्घकाल की अवधि तक के लिए सम्पादित किए जाते हैं। इनका सम्पादन १२ दिनों से लेकर एक वर्ष या इससे अधिक रहता है। यथा गवामयन यज्ञादि। सत्र यज्ञों की प्रकृति द्वादशाह यज्ञ को माना

गया है जिसका परिगणन अहीन एवं सत्र इन दोनों ही यज्ञों में किया जाता है। तथा ऐतरेय ब्राह्मण में इसका विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है।

सोमयाग में मुख्य हवनीय द्रव्य सोमरस होता है। इसी कारण इस यज्ञ का नाम सोमयाग है। अधिकांश विद्वान् सोम को एक लताविशेष मानते हैं। पूर्वकाल में यह विशेष स्थानों पर होती थी। आजकल सोमलता सर्वथा उच्छिन्न हो गयी है। इसके अभाव में अनुकल्परूप में याज्ञिक लोग 'पूती' नामक एक लता विशेष का उपयोग करते हैं।[५] यहाँ ध्यातव्य है कि प्रतीकरूप में याज्ञिक क्रियाओं में वनस्पतिरूप सोम लता विशेष को ग्रहण किया जाता है। लेकिन वास्तव में यहाँ सोम का प्रत्यायनीय समावृत्त गुरुकुल का स्नातक ब्रह्मचारी है। क्योंकि शतपथ ब्राह्मण के सोम यागप्रकरण में पढ़ा गया है कि **"दीक्षातपसो ह वा कुश्योरन्तर्निर्हितः सोम आस'**[६] अर्थात् सोम दीक्षा और तप के गमलों में लगा हुआ था वहां से लाया गया। दीक्षा और तप के गमलों में तो ब्रह्मचारी ही लगा रहता है तब यह सोम जंगल का सोम नही हो सकता। क्योंकि जंगल का सोम दीक्षा और तप के गमलों में नही होता। इस प्रकार स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती की स्पष्ट मान्यता है कि सोम शब्द का प्रयोग कही वनस्पति, ऐश्वर्य, विद्वान्, न्यायधीश आदि के लिए भी हो किंतु इसका वेद में सबसे अधिक मात्रा में प्रयोग गुरुकुल के स्नातक के अर्थ में हुआ है।[७]

---

[५] ऐतरेय ब्राह्मणम्, शशिप्रभा हिन्दी व्याख्या, भूमिका पृ.१५

[६] शतपथ ब्रा.का. ३, अ. ६, ब्रा. २, कण्डिका ९

[७] शतपथ ब्राह्मण सामर्पण भाष्य, भूमिका पृ.३

अस्तु, सोमयज्ञ में ज्योतिष्टोम यज्ञ सबसे मुख्य यज्ञ माना जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण में सोमयज्ञ के रूप में केवल ज्योतिष्टोम यज्ञ का ही वर्णन किया गया है। अन्य तीन सोमयज्ञों का यहाँ नामोल्लेख मात्र है जो कि गोष्टोम, आयुष्टोम और चतुष्टोम के नाम से जाने जाते हैं। ज्योतिष्टोम यज्ञ की सात संस्थाओं में सर्वप्रथम स्थान अग्निष्टोम का आता है। अग्निष्टोम यज्ञ को सभी सोम यज्ञ का आदर्शरूप माना गया है। यह यज्ञ सभी सोमयज्ञों की प्रकृति है, "अग्निष्टोमः प्रकृतिः कृत्स्नस्यापि अनुष्ठेयस्य"[८] अग्निष्टोम यज्ञ की प्रशंसा करते हुए कहा गया है जिस प्रकार सभी नदियां समुद्र में मिल जाती है उसी प्रकार सभी सोमयज्ञ अग्निष्टोम में मिल जाते है 'तं यथा समुद्रं स्त्रोत्या एवं सर्वे यज्ञक्रतवो अपि यन्ति' ।[९] अग्निष्टोम यज्ञ के आरम्भ में अग्नि की स्तुति की जाती है और अंतिम स्तोत्र अग्नि को ही संबोधित करके पढ़ा जाता है। अतः इसका नाम अग्निष्टोम पड़ा। वास्तव में देखा जाए तो इस यज्ञ में ही नहीं अपितु समस्त यज्ञों में जो कर्मकांड किया जाता है वह प्रतीकात्मक होता है। जब तक इस कर्मकांडपरक प्रक्रिया के प्रत्यायनीय को न समझा जाये तब तक ये यज्ञ निरर्थक व इनके फल कपोलकल्पित प्रतीत होते हैं। अतः इन याज्ञिक क्रियाओं को काल्पनिक, दैविक प्रसंगों के अतिरिक्त आध्यात्मिक अथवा सामाजिक प्रसंगों में भी प्रतीकात्मक ढंग से व्याख्यायित समझना चाहिए।

अग्निष्टोम याग में क्रियमाण कर्मकांडीय प्रक्रिया पर दृष्टिपात करते हैं तो इसका आरम्भ दर्शपौर्णमासेष्टि के सम्पन्न हो जाने के उपरान्त वहीं से आरम्भ होता है। ऐतरेय ब्राह्मण में अग्निष्टोम के लिए दीक्षणीयेष्टि के काल

---

[८] ऐतरेय ब्राह्मण, पञ्चिका१, खण्ड१ (सायण भाष्य)

[९] वही, पञ्चिका ३, अध्याय ६, खण्ड १, कण्डिका ७

का विधान करते हुए कहा गया है कि अमावस्या और पूर्णमास की हविष् से यजन करके उसी हविष् के अनुष्ठित हो जाने पर उसी कुशा पर यह दीक्षणीयेष्टि करनी चाहिए। यह एक दीक्षा इष्टि है 'आमावास्येन वा हविषेष्ट्वा पौर्णमासेन वा तस्मिन्नेव हविषि तस्मिन् बर्हिषि दीक्षितैषा एका दीक्षा'।[१०] कहने का आशय यह है कि दर्शेष्टि में जहाँ उत्तम सन्तान प्राप्ति हेतु गर्भस्थापन से पूर्व माता पिता को शारीरिक एवं बौद्धिक बल की पुष्टि हेतु प्रतीकात्मक यज्ञीय प्रक्रिया द्वारा उपदेश किया जाता है, और पौर्णमासेष्टि में चंद्रमा के समान सन्तान की प्राप्ति के रहस्य को प्रतीकों के माध्यम से समझाया जाता है। वैसे ही अग्निष्टोम यज्ञ भी क्या है? सोमपान द्वारा ऐसी सन्तति का निर्माण करना है जिसमें अग्नि और सोम दोनों के गुण इकट्ठे हों। जिनके लिए कहा जा सके-

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को हि विज्ञातुमर्हति॥[११]

स्वामी समर्पणानन्द सरस्वती जी का इस विषय में स्पष्ट कथन है कि अग्नि और सोम अर्थात् क्रोध और शान्ति का यथोचित मेल किन्हीं विरले मन और विरले शरीरों में ही होता है। शरीर में भी इन दोनों गुणों की समीचीनता की आवश्यकता है। इसीलिए सुश्रुत संहिता में भी शरीर को अग्निष्टोम कहा गया है। पूर्ण स्वास्थ्य का चिह्न है अग्निष्टोम का साम्य। ऐसा विलक्षण पुत्र उत्पन्न करने के लिए, वीर्य शुद्धि के लिए सोमपान की आवश्यकता है।[१२]

वस्तुतः अग्निष्टोमान्तर्गत दीक्षणीयेष्टि से आरम्भ कर प्रायणीय इष्टि,

---

[१०] वही, पञ्चिका १, अध्याय १, खण्ड १, कण्डिका १२

[११] उत्तररामचरित १/१५

[१२] शतपथ में एक पथ (अद्भुतकुमारसम्भव) पृ.९५

सोमक्रय, आतिथ्येष्टि, प्रवर्ग्य एवं उपसद्, अग्निप्रणयन, अग्निषोमप्रणयन, हविर्धान प्रणयन, पशुयज्ञ, सोमअभिषवण, सोमाहुति, सोमयज्ञ, उदयनीयेष्टि व अवभृथ स्नान पर्यन्त जो भी प्रतीकात्मक कर्मकांडीय विधि है। उसके बीच बीच के प्रसंगों में यह सहजता से पता चलता रहता है कि इन सांकेतिक विधियों द्वारा ऋषि कुछ सामाजिक लोकोपयोगी सन्देश दे रहे होते हैं। जैसे सोमयाग निरूपण के आरम्भ में ही ऋषि द्वारा अग्नि एवं विष्णु देवताओं की युगलरूप में प्रशंसापूर्वक स्तुति की गयी है तथा समस्त देवताओं का अंतर्भाव इन दोनों देवो में ही मान लिया गया है।[१३] इन दोनों की युग्लरूप में स्तुति ही बतलाती है कि यहाँ सन्तानोत्पत्ति एवं निर्माण की कामना की जा रही है। इस विषय में ऐतरेय ब्राह्मण का स्पष्ट कथन है कि द्वन्द्व ही मिथुन (स्त्री-पुरुष) हैं। इसी कारण लोक में द्वन्द्व से सन्तानरूप मिथुन (पुत्र-पुत्री) उत्पन्न होते हैं। "द्वंन्द्वं वै मिथुनं तस्माद् द्वंद्वान्मिथुनं प्रजायते प्रजात्यै"।[१४] इससे स्पष्ट है कि युगलपूर्वक स्तवन सन्तानोत्पादन के लिए होता है। युगलस्तुति के उपरान्त यहाँ अग्निष्टोम के आरम्भ में अग्नि एवं विष्णु से सम्बंधित एकादशकपाल पुरोडाश के निर्वाप का विधान है जिसमें आठ कपाल अग्नि के हैं तथा तीन कपाल विष्णु के हैं। उल्लेखनीय है कि पुरोडाश मस्तिष्क का प्रतिनिधि है। "शिरो ह वा एतद्यज्ञस्य यत् पुरोडाशः स यान्येवेमानि शीर्ष्णः कपालानि एतान्येवास्य कपालानि मस्तिष्क एव पिष्टानि। तद्वा एतदेकमङ्गमेकं सह करवाव समानं करवावेति।[१५]

यह पुरोडाश यज्ञ का शिर है ये कपाल भी वही हैं जो हमारे इस सिर

---

[१३] अग्निर्वै सर्वाः देवताः विष्णुः सर्वाः देवताः ऐतरेय ब्रा., प.१, अ.१, ख.१, क.४

[१४] वही, प.३, अ.१५, ख.६, क.४

[१५] शतपथ ब्रा. का.१, अ.२, ब्रा.५, क.१-२

के ये कपाल हैं और बीच में जो पिट्ठी पीसकर रखी जाती है वह मस्तिष्क है। क्योंकि कपाल और मस्तिष्क दोनों मिलकर एक अंग है। इसीलिए हम इन्हें इकट्ठा एक एक समान तैयार करें। इस प्रकार उपर्युक्त प्रसंग का अर्थ हुआ कि जिसको दर्शपौर्णमासेष्टि में सन्तान की प्राप्ति हो चुकी है वो अग्नावैष्णव पुरोडाश का निर्वपन करे। जबकि जिसे पुत्रादिरूप प्रजा प्राप्त नही हुई है अर्थात् जो अप्रतिष्ठित है वह पुरोडाश के स्थान पर घृतयुक्त चरु का निर्वपन करे। यहाँ ब्राह्मणकार स्पष्ट करते हैं कि चरु में जो घृत है वह स्त्री का रज है और जो चावल हैं वे पुरुष के वीर्य हैं इस प्रकार वे चावल और घृत मिलकर मिथुन हो जाते हैं। इस मिथुन के द्वारा ही यह चरु यजमान को प्रजा और पशुओं से प्रतिष्ठा के योग्य बनाता है। अतः यह चरु प्रजनन के लिए होता है **'तद्यद्घृतं तत्स्त्रियै पयः ये तण्डुलास्ते पुन्सस्तन्मिथुनं मिथुनेनैवेनं तत्प्रजया पशुभिः प्रजनयति प्रजात्यै" ।**[१६]

दीक्षणीयेष्टि में दीक्षित के संस्कार विशेष को सम्पन्न कराते हुए ब्राह्मणकार यजमान को सद्यःप्रसूत गर्भस्थ शिशु की भांति चित्रित करते हैं 'पुनर्वा एतमृत्विजो गर्भं कुर्वन्ति यं दीक्षयन्ति' ।[१७] यहाँ जल से अभिषिञ्चन कर नवनीत से अनुलेपन यह संकेत करता है कि यह याग उत्पन्न शिशु को पुष्ट बनाने के लिए किया जा रहा है। क्योंकि यहाँ ब्राह्मणकार स्वयं प्रतिपादन कर रहे हैं कि जो आज्य (घृत) है वह देवताओं के लिए है जो सुरभि (घृत) है वह मनुष्य के लिए है, जो आयुत (आधा पिघला) है वह पितरों तथा नवनीत गर्भों के लिए अर्थात् शिशुओं के लिए होता है इसीलिए जो नवनीत से अनुलेपन करते है वे अपने ही भाग्य से उस यजमान को

---

[१६] ऐतरेय ब्रा. प.१, अ.१, ख.१, क.१०

[१७] वही प.१, अ.१, ख.३, क.१

समृद्ध करते हैं तत्पश्चात् यजमान की आँखों में अञ्जन लगाया जाता है तथा इक्कीस कुशा की मुष्टिकाओं से मार्जन करते हैं। तदनन्तर यजमान को एक स्थान विशेष पर ले जाया जाता है जिसे प्राचीनवंश कहा जाता है। यह सोमयाग में प्रयुक्त होने वाला परिभाषिक शब्द है जिस स्थान पर सोम को लाकर रखा जाता है उस स्थान को प्राचीनवंश कहा जाता है। तथा उस स्थान को यजमान की स्थिर योनि अर्थात् उत्पत्तिस्थान माना है। जैसे लोक में उस स्थिर योनि से गर्भ धारण किये जाते हैं और वहीं से उत्पन्न होते हैं वैसे ही यजमान को उस विशेष स्थान पर रखा जाता है। वह उस स्थान विशेष से बाहर नही जा सकता और ऋत्विग्गण भी उससे वार्तालाप नही कर सकते। तत्पश्चात् दीक्षित यजमान को वस्त्र से आच्छादित कर उसके ऊपर कृष्णाजिन (मृगचर्म) लपेटा जाता है और वह अपनी दोनों मुट्ठियों को बांध लेता है। माना यह जाता है कि इस क्रिया के द्वारा यजमान यज्ञ और सभी देवताओं को अपनी मुट्ठी में कर लेता है। इसके बाद वह यजमान मृगचर्म उतारकर योनिस्थानीय देवयजन से निकलकर मृगचर्म के नीचे जो शरीराच्छादित वस्त्र था उसके सहित अवभृथ स्नान के लिए जाता है।[१८]

इस सम्पूर्ण कर्मकांड को ब्राह्मणकार ने गार्भिक दृष्टान्त से रूपकायित किया है। जैसे गर्भस्थ शिशु उल्ब (गर्भ झिल्ली) से आवृत होता है और उसके ऊपर जरायु होती है और जरायु से निकलने के बाद उसकी झिल्ली स्वच्छ की जाती है वैसे ही यहाँ यजमान कृष्णाजिन को उतारकर वस्त्र सहित अवभृथ स्नान कर पवित्र होता है और सोमपान करने का अधिकारी बनता है। अर्थात् जन्म से लेकर सोम (स्नातक) होने तक जो शारीरिक

---

[१८] वही, प.१, अ.१, ख.३, क.२-२३

पुष्टि, शास्त्रदृष्टि, सर्वविधशुद्धि एवं आंतरिक पवित्रता अपेक्षित होती है उसका बीजरूप में संकेत यहाँ क्रमशः नवनीतानुलेपन, अञ्जना-भ्यञ्जन, कुशासम्मार्जन एवं जलाभिषिञ्चन द्वारा कर दिया गया है।

इस आरंभिक वर्णन से ही स्पष्ट है कि जिसको सन्तान अभी तक प्राप्त नही हुई है वह चरु का निर्वपन करे अर्थात् पहले सन्तानोत्पत्ति करे। और जो प्रतिष्ठित है सन्तानयुक्त है वह एकादश कपाल पुरोडाश का निर्वपन करे अर्थात् उत्पन्न शिशु के मस्तिष्क को विकसित करे। क्योंकि शरीरशास्त्र के अध्ययन से पता चलता है कि बालक का कपाल प्रसूत के समय ग्यारह अस्थियों में बंटा होता है। क्योंकि वह एक हड्डीकपाल (पृष्ठास्थि) प्रसूत समय में चार अंशों में बंटी होती है। किंतु छः वर्ष पश्चात् चारों की मिलकर एक हड्डी बन जाती है। इसका भाव यह हुआ कि जब तक कपाल ११ है तब तक वह अग्निसोम अर्थात् स्त्री पुरुष (माता पिता) के सुपुर्द होता है। किन्तु ८ कपाल बनने के समय अर्थात् छठे वर्ष पश्चात् वह अग्नि के अर्थात् गुरु (ज्ञान या विद्या) के लिए अर्पित है।[१९] यहाँ उल्लेखनीय है कि दर्शपौणमासेष्टि अर्थात् सन्तानोत्पत्ति में अग्नि एवं सोम को एकादश कपाल पुरोडाश निर्वपन किया जाता है जबकि यहाँ अग्निष्टोम (सन्तान निर्माण) में अग्नावैष्णव पुरोडाश दिया जाता है जो कि इस बात का प्रतीक है कि शिशु अब अग्नि एवं विष्णु को अर्पित है। ऐतरेय महीदास ने यहाँ दोनों देवताओं का भाग भी निश्चित कर दिया है कि ८ कपाल अग्नि के तथा तीन कपाल विष्णु के हैं।[२०] जिसका तात्पर्य है कि सम्पूर्ण मस्तिष्क

---

[१९] शतपथ ब्रा. सामर्पण भाष्य, पृ.४०१

[२०] ऐतरेय ब्रा., प.१, अ.१, ख.१, क.५

जो कि ११ कपालों के शिशु का था जो अब शारीरिक एवं बौद्धिक विकास के साथ एकीकृत, एक हड्डी कपाल (पृष्ठास्थि) के रूप में परिणत है उसके ८ कपाल अग्नि अर्थात् ज्ञानप्राप्ति के लिए अर्पित हैं तथा ३ कपाल विष्णु अर्थात् यज्ञ के लिए अर्पित हैं। और 'यज देवपूजासंगतिकरण दानेषु' धातु से निष्पन्न यज्ञ शब्द संगठन का द्योतक है।[२१] चूँकि विष्णु यज्ञ है अतः विष्णु नाम यज्ञ अर्थात् संगठन का है। तात्पर्य यह हुआ कि बालक के ५ वर्ष का होने के बाद उपनयन संस्कार के अनन्तर उसके मस्तिष्क का अधिकांश (८ कपाल) भाग विद्याप्राप्ति हेतु तथा शेषभाग (३ कपालात्मक) संगठन या राष्ट्र के लिए संस्कारित करना चाहिए।

यहाँ ध्यातव्य है कि दर्शपौर्णमासेष्टि में अग्नि एवं सोम दो देवताओं को एकादश कपाल पुरोडाश का निर्वपन किया जाता है। किन्तु वहाँ देवताओं का भाग निर्धारित नही किया गया बल्कि अग्नि सोम अर्थात् माता पिता दोनों को ही समेकितरूप से समर्पित है। किंतु यहाँ अग्निष्टोम में अग्नावैष्णव पुरोडाश में भाग भी निर्धारित कर दिया है कि ८ कपाल अग्नि को तथा तीन कपाल विष्णु को अर्पित हों। किञ्च, आगे चलकर अग्निष्टोमान्तर्गत सोमक्रय के अनन्तर जब सोम के स्वागत में आतिथ्य इष्टि का संपादन होता है, तो इस इष्टि के प्रमुख देवता विष्णु हो जाते हैं और इनके लिए ९ कपालों का पुरोडाश बनाया जाता है।[२२]

इससे स्पष्ट है कि सोम अर्थात् जो स्नातक ब्रह्मचारी है उसके मस्तिष्क के अधिकांश कपाल (नव) अब विद्या प्राप्ति के पश्चात् विष्णु अर्थात्

---

[२१] यज्ञो वै विष्णुः (शतपथ ब्राह्मण, का.१, ब्रा२, क.१३) सामर्पण भाष्य पृ.४१

[२२] ऐतरेय ब्रा., प.३, अ.१५, ख.४, क.३

संगठन या राष्ट्र के लिए समर्पित हैं, और इससे आगे जब हम सोमाभिषवण की प्रकिया देखते हैं तो पाते हैं कि यही स्नातक (यजमान) जब प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन और सायंसवन करके जल में प्रवेश करता है तो वह वरुण हो जाता है अर्थात् राष्ट्र का रक्षक पुरुष (राजा) हो जाता है।[२३] इसी कारण यहाँ वरुणसम्बन्धी पुरोडाश समर्पित किया जाता है।

उपयुक्त वर्णन से निष्कर्ष निगमित होता है कि जितने भी याग होते हैं वे सब प्रतीकात्मक हैं। इनकी कर्मकाण्डीय विधि एक प्रकार से नाटक के मञ्चन के समान होती है जिसमें प्रतीकों का आश्रय लेकर प्रत्यायनीय का रोचकतापूर्वक बोध कराना उद्देश्य होता है।

अग्निष्टोम याग का प्रत्यायनीय यज्ञाग्नि के समक्ष प्रतीकात्मक सोमपान द्वारा अग्नि सोम के गुणों से सम्पन्न सन्तति का निर्माण करना है। यदि सोमलता एक प्रतीकमात्र नही है तो आजकल इसकी उपलब्धता के अभाव में सोमयागों को सम्पन्न कराने का कोई औचित्य नही ठहरता। जबकि प्रस्तुत लेख में सिद्ध किया जा चुका है कि सोम गुरुकुल से समावृत्त स्नातक ब्रह्मचारी का नाम है। चूंकि 'सोमपा सोम एव भवति' सोमपान करने वाला भी सोम ही हो जाता है अर्थात् सोम के गुणों से सम्पन्न हो जाता है। अतः अग्निष्टोम याग का यही रहस्य है कि इसके द्वारा ऋषि ज्ञानसम्पन्न, पशुत्व से निर्मुक्त, सुदृढ, शक्तिशाली, राष्ट्ररक्षक, शासन करने में समर्थ मानव सन्तति के निर्माण को स्वर्गप्राप्ति का साधन मान रहे हैं। अग्निमंथन, पशु-इष्टि, अवभृथ स्नान, सोमपान, वरुणत्व प्राप्ति आदि कर्मकांडीय विधियों का यही औचित्य प्रतिपादन है।

---

[२३] वरुण नाम राजा का है इसकी सप्रमाण सिद्धि 'शतपथ में एक पथ' पृ. ५२-५७ पर देखें।

ऐतरेय ब्राह्मण का स्वरूप एवं महत्त्व

डॉ० सन्त कुमार मिश्र[१]

प्रत्येक शिक्षित भारतीय का कर्तव्य है कि वह भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत वेद के स्वरूप, महत्त्व तथा सिद्धान्त का परिचय प्राप्त करे क्योंकि इनमें उपलब्ध ज्ञानराशि आज भी देश और काल से परे ज्ञान के आलोक से सम्पूर्ण विश्व को आलोकित कर रही है। डॉ. बलदेव उपाध्याय के अनुसार वेद का मौलिक तात्पर्य आध्यात्मशास्त्र की समस्या को हल करना है।[२] वेद का अभिप्राय ज्ञान से भिन्न है। सायण ने भी वेद का वेदत्त्व प्रत्यक्ष अथवा अनुमान क्षरा अगम्य उपाय के बोधन में माना है। भौतिक विद्याओं की जानकारी का नाम ज्ञान है तथा आध्यात्म शास्त्र के तथ्यों का अभिधान वेद है। प्रस्तुत शोध पत्र में ऐतरेय ब्राह्मण के स्वरूप एवं महत्त्व पर विवेचन किया गया है किन्तु पूर्वपीठिका रूप में ब्राह्मण का अर्थ स्पष्ट करना प्रासंगिक प्रतीत होता है।

उत्तर वैदिककाल में जब वैदिक संहिताएँ धीरे-धीरे दुर्बोध होती चली गईं, मन्त्रार्थ ज्ञान केवल कुछ विशिष्ट व्यक्तियों तक ही सीमित रह गया,

---

[१] **शिक्षक, शिक्षा विभाग, हाशमी गर्ल्स पी.जी. कॉलेज, अमरोहा**

[२] वैदिक साहित्य की भूमिका

उस समय यह आवश्यकता गहराई से अनुभव की गई कि वेद-मन्त्रों की विशद व्याख्या की जाय। यही स्थिति वैदिक-यज्ञों के कर्मकाण्ड की भी थी। सुदीर्घकाल तक यागों का अनुष्ठान मौखिक ज्ञान के आधार पर ही होता रहा, लेकिन शनैः-शनैः यज्ञ-विधान जब जटिल और संश्लिष्ट प्रतीत होने लगा तथा स्थान-स्थान पर सन्देह और शंकाओं का प्रादुर्भाव होने लगा, तब इस सन्दर्भ में स्थायी आधार की आवश्यकता अनुभव हुई। ब्रह्मवादियों-यज्ञवेत्ताओं के मध्य यागीय विसंगतियों के निराकरण के लिए सम्पन्न चर्चा-गोष्ठियों, परिसंवादों तथा सघन विचार-विमर्श ने ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रणयन का मार्ग विशेष रूप से प्रशस्त किया। वेद-मन्त्रों की सुगम व्याख्या करने, यज्ञीय विधि-विधान के सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रक्षों को निरूपित करने तथा समकालीन वैचारिक आन्दोलन को दिशा देने की भावना मुख्य रूप से ब्राह्मण ग्रन्थों के साक्षात्कार की पृष्ठभूमि में निहित रही है।

वेदों के अभिप्राय को स्पष्ट करने एवं वेदमन्त्रों के विनियोग को जताने तथा उनके गूढ़ रहस्यात्मक ज्ञान की व्याख्या करने के लिये प्रत्येक वैदिक संहिता या उसकी शाखा का अपना ब्राह्मण उपलब्ध है। वेदमन्त्र पद्य रूप में है जबकि ब्राह्मण गद्य रूप में हैं। वेद अपौरुषेय या ईश्वरीय हैं जबकि ब्राह्मण ईश्वरीय नहीं हैं जबकि कुछ विद्वान इन्हें भी ईश्वरीय कृति मानते हैं।

क्रम	**वेद**	**सम्बन्धितब्राह्मण**
१.	ऋग्वेद	ऐतरेयब्राह्मण (शाकलशाखा), शांखायन या कौषीतकि ब्राह्मण (बाष्कलशाखा)
२.	शुक्लयजुर्वेद	शतपथ ब्राह्मण
	कृष्णयजुर्वेद	तैत्तिरीय ब्राह्मण

३.	सामवेद	मन्त्र ब्राह्मण, पंचविश या ताण्ड्य ब्राह्मण, षड्विंश ब्राह्मण, सामविधान ब्राह्मण, आर्षेय ब्राह्मण, देवताध्याय ब्राह्मण, उपनिषद ब्राह्मण, संहितोपनिषद ब्राह्मण, वंश ब्राह्मण, जैमिनीय ब्राह्मण, जैमिनीयार्षेय ब्राह्मण, जैमिनीयोपनिषद ब्राह्मण
४.	अथर्ववेद	गोपथब्राह्मण

ब्राह्मण का अभिप्रायः- मन्त्र भाग के अतिरिक्त शो वेद भाग ब्राह्मण हैं, जैसा कि जैमिनि का कथन है- 'शेषे ब्राह्मणशब्द'।[३] माधवाचार्य तथा सायणाचार्य ने भी इसी लक्षण से सहमति व्यक्त की है।[४] कोश ग्रन्थों के अनुसार वेद-भाग का ज्ञापक 'ब्राह्मण' शब्द नपुंसक लिंग में व्यवहार्य है।[५] इसका अपवाद केवल महाभारत का एक स्थल है, जहाँ पुल्लिंग में भी यह प्रयुक्त हुआ है। ग्रन्थ के अर्थ में 'ब्राह्मण' शब्द का प्राचीन प्रयोग तैत्तिरीय संहिता में है।[६] पाणिनीय अष्टाध्यायी[७], निरुक्त[८] तथा स्वयं ब्राह्मण ग्रन्थों में तो एतद्विषयक पुष्कल प्रयोग दृष्टिगोचर होते हैं। व्युत्पत्ति की दृष्टि से यह 'ब्रह्म' शब्द में 'अण्' प्रत्यय लगने से निष्पन्न हुआ है। इस सन्दर्भ

[३] जैमिनीय मीमांसा सूत्र- २.१.३३

[४] मन्त्रश्च ब्राह्मणश्चेति द्वौ भागौ तेन मन्त्रतः। अन्यद् ब्राह्मणमित्येतद् भवेद् ब्राह्मणलक्षणम्। जैमिनि न्यायमाला. २.१, अवशिष्टो वेदभागो ब्राह्मणम्- ऋग्वेद भाष्य भूमिका पृष्ठ- ३७

[५] ब्राह्मणं ब्रह्मसंघाते वेदभागे नपुंसकम् मेदिनीकोष

[६] एतद् ब्राह्मणान्येव पंच हर्वींषि- तैत्तिरीय संहिता ३.७.१.१

[७] पाणिनीय अष्टाध्यायी ३.४.३.६

[८] निरुक्त ४.२७

में सत्यव्रत सामश्रमी का अभिमत है कि 'ब्राह्मण' शब्द से ही प्रोक्त अर्थ में 'अण्' प्रत्यय लगकर 'ब्राह्मण' शब्द बना है।[९] 'ब्रह्म' शब्द के दो अर्थ हैं- मन्त्र तथा यज्ञ।[१०] इस प्रकार ब्राह्मण वे ग्रन्थ विशेष हैं, जिनमें याज्ञिक दृष्टि से मन्त्रों की विनियोगात्मिक व्याख्या की गई है।[११] जिन मनीषियों ने ब्राह्मणों का मन्त्रवत् प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया है, वे भी इन्हें वेद-व्याख्यान रूप मानते हैं।[१२]

ऐतरेय ब्राह्मणः- ऐतरेय ब्राह्मण ऋग्वेद के शाकल शाखा से समबद्ध है। इसमें ८ खण्ड, ४० अध्याय तथा २८५ कण्डिकाएं हैं। इसकी रचना महिदास ऐतरेय द्वारा की गई थी, जिस पर सायणाचार्य ने अपना भाष्य लिखा है। इस ग्रन्थ से यह पता चलता है कि उस समय पूर्व में विदेह जाति का राज्य था जबकि पश्चिम में नीच्य और अपाच्य राज्य थे। उत्तर में कुरू और मद्र तथा दक्षिण में भोज्य राज्य था। ऐतरेय ब्राह्मण में राज्याभिषेक के नियम दिये गये हैं। इसके अन्तिम भाग में पुरोहित का विशेष महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। ऋक् साहित्य में दो ब्राह्मण ग्रन्थ हैं। पहले का नाम ऐतरेय ब्राह्मण तथा दूसरे का शांख्यायन अथवा कोषीतकि ब्राह्मण है। दोनों ग्रन्थों का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। यत्र-तत्र एक ही विषय की व्याख्या की गई है, किन्तु एक ब्राह्मण में विपरीत अर्थ प्रकट किया गया

---

[९] ब्रह्म वै मन्त्रः - शतपथ ब्राह्मण ७.१.१.५, ऐतरेयालोचन पृष्ठ-२

[१०] ब्राह्मणं नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणं च व्याख्यानग्रन्थः। भट्टभास्कर, तैत्तिरीय संहिता १.५.१ पर भाष्य

[११] नैरुक्त्यं यस्य मन्त्रस्य विनियोगः प्रयोजनम्। प्रतिष्ठानं विधिश्चैव ब्राह्मणं तदिहोच्यते। - वाचस्पति मिश्र

[१२] स्वामी दयानन्द सरस्वती, अनुभ्रमोच्छेदन, सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ- २८८, बहावलगढ़ संस्करण, सं० २०२९

है। कौषीतकि ब्राह्मण में जिस अच्छे ढंग से विषयों की व्याख्या की गई है उस ढंग से ऐतरेय ब्राह्मण में नहीं की गई है।

ऐतरेय ब्राह्मण का भाष्यकारः- पारम्परिक दृष्टि से ऐतरेय ब्राह्मण के प्रवचनकर्ता ऋषि महिदास ऐतरेय है। षड्गुरुशिष्य ने महिदास को किसी याज्ञवल्क्य नामक ब्राह्मण की इतरा-द्वितीया नाम्नी भार्या का पुत्र बतलाया गया है।[१३] ऐतरेयारण्यक के भाष्य में षड्गुरुशिष्य ने इस नाम की व्युत्पत्ति भी दी है।[१४] सायण ने भी अपने भाष्य के उपोद्घात में इसी प्रकार की आख्यायिका दी है, जिसके अनुसार किसी महर्षि की अनेक पत्नियों में से एक का नाम इतरा था। महिदास उसी के पुत्र थे। पिता की उपेक्षा से खिन्न होकर महिदास ने अपनी कुलदेवता भूमि की उपासना की, जिसकी अनुकम्पा से उन्होंने ऐतरेय ब्राह्मण के साथ ही ऐतरेयारण्यक का भी साक्षात्कार किया।[१५] भट्ट भास्कर के अनुसार ऐतरेय के पिता का नाम ही ऋषि इतर था।[१६] स्कन्द पुराण में प्राप्त आख्यान के अनुसार ऐतरेय के पिता हारीत ऋषि के वंश में उत्पन्न ऋषि माण्डूकि थे।[१७] छान्दोग्योपनिषद[१८] के अनुसार महिदास को ११६ वर्ष की आयु प्राप्त हुई। शांखायन गृह्यसूत्र[१९]

---

[१३] महिदासैतरैयर्षिसन्दृष्टं ब्राह्मणं तु यत्। आसीद् विप्रो यज्ञवल्को द्विभार्यस्तस्य द्वितीयामितरेति चाहुः ॥ ऐतरेय ब्राह्मण सुखप्रदावृत्ति

[१४] इतराख्यस्य माताभूत् स्त्रीभ्यो ढक्यैतरेयगीः ॥ ऐतरेयारण्यक, भाष्यभूमिका

[१५] ऐतरेय ब्राह्मण सायण-भाष्य, पृष्ठ ८, आनन्दाश्रम

[१६] इतरस्य ऋषेरपत्यमैतरैयः। शुभ्रादिभ्यश्य ढक्।

[१७] अस्मिन्नैव मम स्थाने हारीतस्यान्वयेऽभवत्। माण्डूकिरिति विप्राग्र्यो वेदवेदांगपारगः॥ तस्यासीदितरानाम भार्या साध्वी गुणैर्युता। तस्यामुत्पद्यतसुतस्त्वैतरेय इति स्मृतः॥ स्कन्द पुराण, १.२.४२.२६-३०

[१८] छान्दोग्योपनिषद् ३.१६.७

[१९] शांखायन गृह्यसूत्र ४.१०.३

के अनुसार इनके नाम का ऐतरेय और महैतरेय रूपों में उल्लेख हैं। कतिपय पाश्चात्य मनीषियों ने अवेस्ता में वर्णित 'ऋत्विक्' के अर्थ में प्रयुक्त 'अथ्रेय' शब्द से ऐतरेय का साम्य स्थापित करने की चेष्टा की है। इस साम्य के सिद्ध हो जाने पर ऐतरेय की स्थिति भारोपीयकालिक हो जाती है। हॉग और खोन्दा सदृश पाश्चात्य विद्वानों की धारणा है कि सम्पूर्ण ऐतरेय ब्राह्मण किसी एक व्यक्ति अथवा काल की रचना नहीं है। अधिक से अधिक महिदास को ऐतरेय ब्राह्मण के वर्तमान पाठ का सम्पादक माना जा सकता है।[२०]

ऐतरेय ब्राह्मण का स्वरूपः- सम्पूर्ण ऐतरेय ब्राह्मण में ४० अध्याय हैं। पाँच अध्यायों को मिलाकर एक पंचिका निष्पन्न हो जाती है, जिनकी कुल संख्या आठ है। अध्याय का अवान्तर विभाजन खण्डों में है, जिनकी संख्या प्रत्येक अध्याय में पृथक्-पृथक् है। समस्त ४० अध्यायों में कुल २८५ खण्ड है। ऋग्वेद की प्रसिद्धि होतृवेद के रूप में है, इसलिए उससे सम्बद्ध इस ब्राह्मण ग्रन्थ में सोमयागों के होतृपक्ष की विशद मीमांसा की गई है। होतृमण्डल में, जिनकी होत्रक के नाम से प्रसिद्धि है, सात ऋत्विक होते है-

१. होता, २. मैत्रावरुण, ३. ब्राह्मणाच्छंसी, ४. नेष्टा, ५. पोता, ६. अच्छावाक, ७. आग्नीघ्र

ये सभी सोमयागों के तीनों सवनों में ऋग्मन्त्रों से याज्या[२१] का सम्पादन करते हैं। इनके अतिरिक्त पुरोनुवाक्याएं होती हैं, जिनका पाठ होम से पहले होता है। होता, मैत्रावरुण, ब्राह्मणाच्छंसी और अच्छावाक- ये आज्य, प्रउग प्रभृति शस्त्रों[२२] का शंसन करते हैं। इन्हीं का मुख्यतः

---

[२०] जे्. खोन्दा, हिस्ट्री इण्डियन लिटरेचर, वे.लि. भाग १ पृष्ठ ३४४

[२१] ठीक आहुति सम्प्रदान केसमय पठित मन्त्र

[२२] अगीतमन्त्र साध्य स्तुति

प्रतिपादन इस ब्राह्मण ग्रन्थ में है। प्रसंगवश कतिपय अन्य कृत्यों का निरूपण भी हुआ है। होता के द्वारा पठनीय प्रमुख शस्त्र ये हैं- आज्य शस्त्र, प्रउग शस्त्र, मरुत्वतीय शस्त्र, निष्कैवल्य शस्त्र, वैश्वदेव शस्त्र, आग्निमारुत शस्त्र, षोडशी शस्त्र, पर्याय शस्त्र और आश्विन शस्त्र आदि।

याज्या और पुराऽनुवाक्या को छोड़कर अन्य शस्त्र प्रायः तृच होते हैं, जिनमें पहली और अन्तिम (उत्तमा) ऋचा का पाठ तीन-तीन बार होता है। उत्तमा ऋचा को ही परिधानीया भी कहा जाता है। पहली ऋचा का ही पारिभाषिक नाम प्रतिपद भी है। इन्हीं के औचित्य का विवेचन वस्तुतः ऐतरेय ब्राह्मणकार का प्रमुख उद्देश्य है।

अग्निष्टोम समस्त सोमयागों का प्रकृतिभूत है, एतएव इसका सर्वप्रथम विधान किया गया है, जो पहली पंचिका से लेकर तीसरी पंचिका के पाँचवें खण्ड तक है। यह एक दिन का प्रयोग है, सुत्यादिन की दृष्टि से सामान्यतः इसके अनुष्ठान में कुल पाँच दिन लगते हैं। इसके अनन्तर अग्निष्टोम की विकृतियों- उक्थ्य, क्रतु, पोडशी और अतिरात्र का वर्णन चतुर्थ पंचिका के द्वितीय अध्याय के पंचम खण्ड तक है। इसके पश्चात् सत्रयागों का विवरण है, जो ऐतरेय ब्राह्मण में ताण्ड्यादि अन्य ब्राह्मणों की अपेक्षा कुछ कम विस्तार से है। सत्रयागों में गवामयन का चतुर्थ पंचिकागत दूसरे अध्याय के षष्ठ खण्ड से तीसरे अध्यायान्तर्गत अष्टम खण्ड तक निरूपण है। अंगिरसामयन और आदित्यानामयन नामक सत्रयाग भी इसी मध्य आ गये हैं। पाँचवीं पंचिका में विभिन्न द्वादशाह संज्ञक सामयागों का निरूपण है। इसी पंचिका में अग्निहोत्र भी वर्णित है। छठी पंचिका में सोमयागों से सम्बद्ध प्रकीर्ण विषयों का विवेचन है। इसी पंचिका के चतुर्थ और पंचम अध्यायों में बालखिल्यादि सूक्तों की विशद

प्ररोचना की गई है, जिनकी गणना खिलों के अन्तर्गत की जाती है। सप्तम पंचिका का प्रारम्भ यद्यपि पशु-अंगों की विभक्ति प्रक्रिया के विवरण के साथ होता है, किन्तु इसके दूसरे अध्याय में अग्निहोत्री के लिए विभिन्न प्रायश्चित्तों, तीसरे में शुनः शेप का प्रसिद्ध उपाख्यान और चतुर्थ अध्याय में राजसूययाग के प्रारम्भिक कृत्यों का विवरण है। आठवीं पंचिका के प्रथम दो अध्यायों में राजसूययाग का निरूपण है, किन्तु अन्तिम तीन अध्याय सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विवरण ऐन्द्र महाभिषेक, पुरोहित की महत्ता तथा ब्रह्मपरिमर[२३] का प्रस्तावक है। ब्रह्म का अर्थ यहाँ वायु है। इस वायु के चारों ओर विद्युत, वृष्टि, चन्द्रमा, आदित्य और अग्नि प्रभृति का अन्तर्भाव मरण प्रकार ही परिमर है। रूप की सामान्य प्रक्रिया से हटकर सोचने पर यह कोई विलक्षण वैज्ञानिक कृत्य प्रतीत होता है।

इनमें से ३० अध्यायों तक प्राच्य और प्रतीच्य उभयवुध विद्वानों के मध्य कोई मतभेद नहीं है। यह भाग निर्विवाद रूप से ऐतरेय ब्राह्मण का प्राचीनतम भाग है। इसमें भी प्रथम पाँच अध्याय तैत्तिरीय ब्राह्मण से भी पूर्ववर्ती माने जा सकते हैं।[२४] कीथ की इस इस धारणा के विपरीत विचार हार्श का है, जो तैत्तिरीय की अपेक्षा इन्हें परवर्ती मानते हैं।[२५] कौषीतकि ब्राह्मण के साथ ऐतरेय ब्राह्मण की तुलनात्मक विवेचना करने के अनन्तर पाश्चात्य विद्वानों का विचार है कि सातवीं और आठवीं पंचिकाएं[२६] परवर्ती हैं। इस सन्दर्भ में निम्न तर्क द्रष्टव्य हैं-

---

[२३] शलुक्ष्यार्थक प्रयोग

[२४] कीथ, ऋग्वेद ब्राह्मण भूमिका

[२५] वी. जी. एल. हार्श द वैदिक गाथा एण्ड श्लोक लितरातुर

[२६] अन्तिम १० अध्याय

- कौषीतकि ब्राह्मण में मात्र ३० अध्याय हैं, जबकि दोनों ही ऋग्वेदीय ब्राह्मणों का वर्ण्यविषय एक ही सोमयाग है।
- राजसूययाग में राजा का यागगत पेय सोम नहीं है, जबकि ऐतरेय ब्राह्मण के मुख्य विषय सोमयाग के अन्तर्गत पेयद्रव्य सोम है।
- ऐतरेय ब्राह्मण की सप्तम पंचिका का आरम्भ अथातः[२७] से हुआ है, जो परवर्ती सूत्र शैली प्रतीत होती है।

उपर्युक्त तर्कों के उत्तर में यहाँ केवल पाणिनि का साक्ष्य ही पर्याप्त है, जिन्होंने ऐतरेय ब्राह्मण के ४० अध्यायात्मक स्वरूप का संकेत से उल्लेख किया है। वे ऋग्वेद के दूसरे ब्राह्मण कौषीतकि के ३० अध्यायात्मक स्वरूप से भी परिचित थे।[२८] वस्तुतः उपर्युक्त शंकाओं[२९] का कारण ऐतरेय ब्राह्मण की विवेचन शैली है, जो विषय को संश्लिष्ट और संहितरूप में न प्रस्तुत कर कुछ फैले-फैले रूप में निरूपित करती है। वास्तव में श्रौतसूत्रों के सदृश समवेत और संहितरूप में विषय निरूपण की अपेक्षा ब्राह्मण ग्रन्थों से नहीं की जा सकती। यह सुनिश्चित है कि ऐतरेय ब्राह्मण पाणिनि के काल तक अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त कर चुका था। मूलवेद[३०] के अस्तित्त्व की बात भी उठाई है, किन्तु खोंदा जैसे मनीषियों ने उससे असहमति प्रकट की है।[३१]

---

[२७] अथातः पशोर्विभक्तिस्यतस्य विभागं वक्ष्यामः

[२८] अष्टाध्यायी ५.१.६२

[२९] जिनमें षष्ठ पंचिका को परिशिष्ट मानने की धारणा भी है, क्योंकि इसमें स्थान-स्थान पर पुनरुक्ति है।

[३०] भारोपीय काल के वैदिक संहिता स्वरूप जिसको जर्मन भाषा में UR-Brahamana

[३१] खोन्दा हिस्ट्री इण्डियन लिटरेचर, वे.लि. भाग १ पृष्ठ ३६०

ऐतरेय ब्राह्मण का महत्त्वः- ऐतरेय ब्राह्मण विभिन्न दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस पर चार भाष्यों- गोविन्दस्वामी, भट्टभास्कर, षड्गुरुशिष्य और सायणाचार्य के भाष्य का अस्तित्त्व बतलाया जाता है। इनमें से अभी तक केवल अन्तिम दो का प्रकाशन हुआ है। उनमें भी अध्ययन-अध्यापन का आधार सामान्यतया सायणभाष्य ही है, जिनमें होत्रपक्ष की सभी ज्ञातव्य विशेषताओं का समावेश है।

ऐतरेय ब्राह्मण की रूप समृद्धिः- किसी कृत्यविशेष में विनियोजन मन्त्र के देवता, छन्दस इत्यादि के औचित्य निरूपण के सन्दर्भ में ऐतरेयकार अन्तिम बिन्दु तक ध्यान रखता है। इसे वह अपनी पारिभाषिक शब्दावली में रूप समृद्धि की आख्या देता है। **ऐतद्वै यज्ञस्य समृद्धं यद्रूप-समृद्धं यत्कर्म क्रियामाण्र ऋगभिवदति।**[३२]

ऐतरेय ब्राह्मण का ऐतिहासिक महत्त्वः- ऐतरेय ब्राह्मण में मध्य प्रदेश का विशेष आदरपूर्वक उल्लेख किया गया है- 'ध्रुवायां मध्यमायां प्रतिष्ठायां दिशि।[३३] सत्यव्रत सामश्रमी के अनुसार इस मध्य प्रदेश में कुरु, पांचाल, शिवि और सौवीर संज्ञक प्रदेश सम्मिलित थे।[३४] महिदास का अपना निवास स्थान भी इरावती नदी के समीपस्थ किसी जनपद में था।[३५] ऐतरेय ब्राह्मण[३६] के अनुसार उस समय भारत के पूर्व में विदेह आदि

[३२] ऐतरेय ब्राह्मण ३.२

[३३] ऐतरेय ब्राह्मण ८.४

[३४] ऐतरेयालोचन, कलकत्ता १९०६, पृष्ठ ४२

[३५] ऐतरेयालोचन, कलकत्ता १९०६, पृष्ठ ७१

[३६] ऐतरेय ब्राह्मण ८.३.२

जातियों का राज्य था। दक्षिण में भोजराज्य, पश्चिम में नीच्य और अपाच्य का राज्य, उत्तर में उत्तरकुरुओं और उत्तर मद्र का राज्य तथा मध्य भाग में कुरु पांचाल राज्य थे। ऐन्द्र महाभिषेक के प्रसंग में अन्तिम तीन अध्यायों में जिन ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम आये हैं, वे हैं- परीक्षित पुत्र जनमेजय, मनु पुत्र शर्यात, उग्रसेन पुत्र युधां श्रौष्टि, अविक्षित पुत्र मरूत्तम, सुदास पैजवन, शतानीक और दुष्यन्त पुत्र भरत। भरत की विशेष प्रशंसा करते हुए कहा गया है कि उसके पराक्रम की समानता कोई भी नहीं कर पाया।[३७] इन भरत के पुरोहित थे- ममतापुत्र दीर्घतमा।

पुरोहितों का गौरवः- ऐतरेय ब्राह्मण के अन्तिम अध्याय में पुरोहितों का विशेष महत्त्व प्रतिपादित किया गया है। राजा को पुरोहितों की नियुक्ति अवश्य करनी चाहिए, क्योंकि वह आहवनीयाग्नितुल्य होता है। पुरोहित वस्तुतः प्रजा का प्रतिनिधि है, जो राजा से प्रतिज्ञा कराता है कि वह अपनी प्रजा से कभी द्रोह नहीं करेगा।

आचार-दर्शनः- ऐतरेय ब्राह्मण में नैतिक मूल्यों और उदात्त आचार-व्यवहार के सिद्धान्तों पर विशेष बल दिया गया है। प्रथम अध्याय के षष्ठ खण्ड में कहा गया है कि दीक्षित यजमान को सत्य ही बोलना चाहिए।[३८] इसी प्रकार के अन्य वचन हैं- जो अहंकार से युक्त होकर बोली जाती है, वह राक्षसी वाणी है।[३९]

---

[३७] महाकर्म भरतस्य न पूर्वे नापरे जनाः। दिवं मर्त्य इव हस्ताभ्यां नोदापुः पञ्च मानवाः॥ ऐतरेय ब्राह्मण ८.४.९

[३८] ऋतं वाव दीक्षा सत्यं दीक्षा तस्माद् दीक्षितेन सत्यमेव वदितव्यम्।

[३९] विदुषां सत्येव वदितव्यम् ५.२.९, यां वै दृप्तो वदति यामुन्मत्तः सा वै राक्षसी वाक् २.१

शुनःशेप से सम्बन्धित आख्यान के प्रसंग में कर्मनिष्ठ जीवन और पुरुषार्थ साधन का महत्त्व काव्यात्मक ढंग से प्रतिपादित किया गया है। इसमें कहा गया है कि बिना थके हुए श्री नहीं मिलती। जो विचरता है, उसके पैर पुष्प्युक्त होते हैं, उसकी आत्मा फूल को उगाती और काटती है। भ्रमण के श्रम से उसकी समस्त पापराशि नष्ट हो जाती है। बैठेठाले व्यक्ति का भाग्य भी बैठ जाता है, सोते हुए का सो जाता है और चलते हुए का चलता रहता है। कलियुग का अर्थ है- मनुष्य की सुप्तावस्था जब वह जंभाई लेता है तब द्वापर की स्थिति में होता है, खड़े होने पर त्रेता और कर्मगत होने पर सतयुग की अवस्था में आ जाता है। चलते हुए ही मनुष्य फल प्राप्त करता है। सूर्य के श्रम को देखो, जो चलते हुए कभी आलस्य नहीं करता।[४०]

देवता सम्बन्धी विवरणः- ऐतरेय ब्राह्मण में कुल ३३ देवता माने गये हैं- त्रयस्त्रिंशद् वै देवाः। इनमें अग्नि प्रथम देवता है और विष्णु परम देवता। इन्हीं के मध्य शेष सबका समावेश हो जाता है।[४१] यहीं से महत्ता प्राप्त विष्णु आगे पुराणों में सर्वाधिक वैशिष्ट्यसम्पन्न देवता बन गए। देवों के मध्य इन्द्र अत्यधिक ओजस्वी, बलशाली और दूर तक पार कराने वाले देवता हैं।[४२] देवताओं के सामान्यरूप से चार गुण[४३] माने गये हैं-

---

[४०] कलिः सयानों भवति संजिहानस्तु द्वापरः। उत्तिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरंश्चरैवेति॥ चरन्वै मधु विन्दति चरन्स्वादुमुदुम्बरम्। सूर्यस्य पश्य श्रेमाणं यो न तन्द्रयते चरंश्चरैवेति॥ ऐतरेय ब्राह्मण ३३.१

[४१] अग्निर्वै देवानामवमो विष्णुः परमस्तदन्तरेण अन्याः सर्वाः देवताः।

[४२] स वै देवानामोजिष्ठो बलिष्ठः सहिष्ठः सत्तमः पारयिष्णुतमः, ७.१६

[४३] ऐतरेय ब्राह्मण १.१.६, ३.३.९, ५.२.४, ६.३.४

१. वे परोक्षप्रिय होते हैं।

२. देवता सत्य से युक्त होते हैं।

३. वे एक-दूसरे के घर में रहते हैं और

४. वे मर्त्यों को अमरता प्रदान करते हैं।

शुनःशेप आख्यान का महत्त्वः- ऐतरेय ब्राह्मण में आख्यानों की विशाल थाती संकलित है। इनका प्रयोजन याग से सम्बद्ध देवता और उनके शस्त्रों (स्तुतियों) के छन्दों एवं अन्य उपादानों का कावित्मक ढंग से औचित्य निरूपण करना है। इन आख्यानों में शुनःशेप का आख्यान जिसे हरिश्चन्द्रोपाख्यान भी कहा जाता है, समाजशास्त्र, नेतृत्त्वशास्त्र एवं धर्मशास्त्र की दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण है। यह ३३वें अध्याय में समाविष्ट है। राज्याभिषेक के समय यह राजा को सुनाया जाता था। संक्षिप्त रूप में आख्यान इस प्रकार हैः- इक्ष्वाकुवंशज राजा हरिश्चन्द्र पुत्ररहित थे। वरुण की उपासना और उनकी प्रसन्नता तथा इस शर्त पर राजा को रोहित नामक पुत्र की प्राप्ति हुई कि वे उसे वरुण को समर्पित कर देंगे, बाद में वे उसे समर्पित करने से टालते रहे, जिसके फलस्वरूप वरुण के कोप से वे रोगग्रस्त हो गये। अन्त में राजा ने अजीगर्त ऋषि के पुत्र शुनःशेप को खरीद कर उसकी बलि देने की व्यवस्था की। इस यज्ञ में विश्वामित्र और जमदग्नि ऋत्विक् थे। शुनःशेप की बलि के लिए इनमें से किसी के भी तैयार न होने पर अन्त में पुनः अजीगर्त ही लोभवश उस काम के लिये भी तैयार हो गये। बाद में विभिन्न देवी-देवताओं की स्तुति से शुनःशेप बन्धन मुक्त हो गये। लोभी पिता का उन्होंने परित्याग कर दिया और विश्वामित्र ने उन्हें पुत्ररूप में स्वीकार कर लिया। शुनःशेप का नया नामकरण हुआ- देवरात विश्वामित्र। इस आख्यायिका के चार प्रयोजन आपाततः प्रतीत होते हैं-

१. वैदिक मन्त्रों की शक्ति और सामार्थ्य का अर्थवाद के रूप में प्रतिपादन, जिनकी सहायता से व्यक्ति वध और बन्धन से भी मुक्त हो सकता है।

२. यज्ञ या किसी भी धार्मिक कृत्य में नर-बलि जैसे घृणित कृत्य की भर्त्सना सम्भव है। बहुत आदिम प्राकृत काल में जब यज्ञ संस्था विधिवत् गठित नहीं हो पाई थी, नर बलि की छिटपुट घटनाएं यदा-कदा आवृत्ति हो जाती रही होगी। ऐतरेय ब्राह्मण ने प्रकृत प्रसंग के माध्यम से इसे अमानवीय घोषित कर दिया है।

३. मानव हृदय की, ज्ञानी होने पर भी लोभमयी प्रवृत्ति का निदर्शन, जिसके उदाहरण ऋषि अजीगर्त हैं।

४. राज सत्ता द्वारा निजी स्वार्थ के लिए प्रजा का प्रलोभनात्मक उत्पीड़न।

इस आख्यायिका के हृदयावर्जक अंश दो ही हैं-

क. राजा हरिश्चन्द्र के द्वारा प्रारम्भ में पुत्र लालसा की गाथाओं के माध्यम से मार्मिक अभिव्यक्ति।

ख. चरैवेति की प्रेरणामयी गाथाएँ।

ऐतरेय ब्राह्मण का रचना, शैली एवं भाषागत महत्त्वः- ऐतरेय ब्राह्मण में रूपात्मक और प्रतीकात्मक शैली का आश्रय लिया गया है, जो इसकी अभिव्यक्तिगत सप्राणता में अभिवृद्धि कर देती है। स्त्री-पुरुष के मिथुनभव के प्रतीक सर्वाधिक हैं। उदाहरण के लिए वाणी और मन देवमिथुन[४४] घृतपक्व चरु में घृत स्त्री अंश है और तण्डुल पुरुषांश।[४५]

---

[४४] वाक्च वै मनश्च देवानं मिथुनम् २४.४.१

[४५] ऐतरेय ब्राह्मण १.१

दीक्षणीया इष्अि में दीक्षित यजमान के समस्त संस्कार गर्भगत शिशु की तरह करने का विधान भी वस्तुतः प्रतीकात्मक ही है। कृत्य विधान के सन्दर्भ में कहीं-कहीं बड़े सुन्दर लौकिक उदाहरण दिये गये हैं। यथा- एकाह और अहीन यागों के कृत्यों से याग का समापन इसलिए करना चाहिए क्योंकि दूर की यात्रा करने वाले लक्ष्य पर पहुँचकर बैलों को बदल देते हैं। ३८वें अध्याय में ऐन्द्रमहाभिषेक के प्रसंग में सन्त्रों से निर्मित आसन्दी का सुन्दर रूपक प्राप्त होता है, जो इस प्रकार है- इस आसन्दी के अगले दो पाये बृहत् और रथन्तरसामों से तथा पिछले दोनों पाये वैरूप और वैराज सामों से निर्मित हैं। ऊपर के पट्टे का कार्य करते हैं- शाकवर और रैवल साम। नौधस और कालेय साम पार्श्वुलक स्थानीय हैं। इस आसन्दी का ताना ऋचाओं से, बाना सामों से तथा मध्यभाग यजुषों से निर्मित है। इसका आस्तरण है यश का तथा उपधान श्री का। सवितृ, वृहस्पति और पूषा प्रभृति विभिन्न देवों ने इसके फलकों को सहारा दे रखा है। समस्त छन्दों और तदभिमानी देवों से यह आसन्दी परिवेष्टित है। अभिप्राय यह है कि बहुविध उपमाओं और रूपकों के आलम्बन से विषय निरूपण अत्यन्त सुग्राह्य हो उठा है। ऐतरेय ब्राह्मण की रचना ब्रह्मवादियों के द्वारा मौखिक रूप में व्यवहृत यज्ञ विवेचनात्मक सरल शब्दावली में हुई है जैसा कि प्रोफेसर खोंदा ने अभिमत व्यक्त किया है।[४६] प्रोफेसर कीथ ने अपनी भूमिका में इसकी रूप रचना, सन्धि और समासगत स्थिति का विशद विश्लेषण किया है।

वैज्ञानिक महत्त्वः- ऐतरेय ब्राह्मण में अनेक महत्त्वपूर्ण वैज्ञानिक सूचनाएं संकलित हैं, उदाहरण के लिए ३०वें अध्याय में पृथ्वी के प्रारम्भ

---
[४६] खोन्दा हिस्ट्री इण्डियन लिटरेचर, वे.लि. भाग १ पृष्ठ ४१०

में गर्भरूप का विवरण प्राप्त होता है। आदित्यों ने अंगिरसों को दक्षिणा में पृथ्वी दी। उन्होंने उसे तपा डाला, तब पृथ्वी सिंहिनी होकर मुँह खोलकर आदमियों को खाने के लिए दौड़ी। पृथ्वी की इस जलती हुई स्थिति में उसमें उच्चावच गर्त बन गये।

इस प्रकार ऋग्वेद के ब्राह्मण ऐतरेय का महत्त्व उपरोक्त विवेचन से भी अधिक है किन्तु मैं अल्पज्ञानी जितना अपने श्रेष्ठजनों, गुरुजनों से प्राप्त ज्ञान को संजो सका और जिन श्रेष्ठ ग्रन्थों के विवेचन से ज्ञान लब्ध कर सका, उसका ही यहाँ विवेचन किया हूँ।

ऐतरेय आरण्यक का पुनरावलोकन

डॉ० जगमोहन[1]

विश्व साहित्य की प्राचीनतम कृतियां वेद हैं। वेदों की संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद् इस परस्पर श्रृंखला में प्रत्येक शास्त्र एक दूसरे के पूरक हैं। किसी भी अवयव की न्यूनता से जैसे शरीर में विकृति उत्पन्न होकर अपूर्णता उत्पन्न हो जाती है। उसी प्रकार उक्त चारों अवयवों में से किसी एक के ज्ञान का अभाव वेद ज्ञान को अपूर्ण बना देता है। कर्मकाण्ड की दृष्टि से ब्राह्मण एवं आरण्यक एक दूसरे से अधिक सन्निकट एवं सम्बद्ध हैं। अतएव बौधायन धर्मसूत्रकार ने आरण्यकों को भी ब्राह्मण कोटि में स्थान दिया है-

विज्ञायते कर्मादिष्वेतैर्जुहुयात् पूतो देवलोकान् समश्नुते इति हि ब्राह्मणमिति हि ब्राह्मणम्।

वर्तमान वैदिक अध्ययन की परम्परा में वैदिक वाङ्मय के ज्ञानकाण्ड को प्रायः उपनिषद् अंश से ही बाहुल्यतया पढ़ाया जाता है। आरण्यकों का अध्ययन पारंपरिक रूप में और वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में उपेक्षित-सा ही रहा है। प्रस्तुत शोध पत्र में ऐतरेय आरण्यक को अपना केन्द्र बनाकर

[1] **सहायक आचार्य, हिन्दू महाविद्यालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली**

आरण्यक ग्रन्थों के विषय में प्रचलित तथ्यों के पुनरावलोकन का प्रयास किया गया है।

आरण्यक शब्द की व्युत्पत्ति एवं निरुक्तियाँ-

पाणिनीय व्याकरण में अरण्य शब्द से मनुष्य अभिधेय होने पर शैषिक अर्थ में हुए वुञ् प्रत्यय का विधान कर आरण्यक शब्द को सिद्ध किया जाता है। अरण्य में होने वाला मनुष्य। पंडित ब्रह्मदत्त जिज्ञासु ने इस शब्द का अर्थ जंगली मनुष्य किया है। पाणिनि ने आरण्यक शब्द को ग्रन्थ के रूप में व्युत्पन्न नहीं किया है।

इस आधार पर दो तथ्य उपस्थित होते हैं -

१. पाणिनि के समय तक आरण्यकों का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था।

२. आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थों के अन्तर्गत ही समाहित थे, उनकी कोई स्वतंत्र सत्ता विद्यमान नहीं थी।

पाणिनि के पश्चात् वार्तिककार कात्यायन भी आरण्यक शब्द की चर्चा नहीं करते हैं। भाष्यकार पतञ्जलि अरण्यान् मनुष्ये सूत्र के भाष्य में आरण्यक शब्द का सम्बन्ध अनेक अर्थों के साथ स्थापित करते हैं। आरण्यकोऽध्यायः इस उदाहरण के द्वारा पतञ्जलि आरण्यक शब्द का सम्बन्ध अध्ययन के साथ उपस्थापित करते हैं।

आरण्यकों का पुराना नाम रहस्य भी है। यह नाम गोपथ ब्राह्मण के पूर्वभाग मनुस्मृति एवं महाभाष्य में उपलब्ध होता है। इस प्रकार आरण्यक ग्रन्थों के लिए हमें दो शब्द उपलब्ध होते हैं- रहस्य एवं आरण्यक। सम्पूर्ण परम्परा (प्राचीन परम्परा से वर्तमान तक) आरण्यक ग्रन्थों के अध्ययन का सम्बन्ध अरण्यों अर्थात जंगलों के साथ स्थापित करती हैं। आचार्य सुरेश्वर बृहदारण्यक के सम्बन्ध-वार्तिक में लिखते हैं-

आरण्याध्ययनाच्चैतदारण्यकमिति।

तैत्तिरीय आरण्यक की भूमिका में सायण कहते हैं कि -

अरण्याध्ययनादेतदारण्यमितीर्यते।

अरण्ये तदधीयीतेत्येवं वाक्यं प्रचक्षते॥

यही भाव वे ऐतरेय आरण्यक की भूमिका में भी प्रकट करते है। पदमञ्जरीकार कहते है –

योऽरण्येऽधीयते उपनिषद्भागः सः उच्यते।

आरण्यक शब्द के लिए उपलब्ध रहस्य शब्द का अर्थ भी अरण्यपरक किया गया है। यथा बौधायन धर्मसूत्र पर मस्करीभाष्य में लिखा है- **रहस्यम् अरण्ये पठितव्यो ग्रन्थः यः तम्।**

मेधातिथि भी अपने भाष्य में इसी भाव को प्रस्तुत करते है।

उपर्युक्त सन्दर्भों को देखने के पश्चात् ऐतरेयारण्यक में आरण्यक शब्द का प्रयोग विभाजक इकाई के रूप में दिखाई देता है। ऐतरेय आरण्यक में कुल ५ आरण्यक हैं। ये आरण्यक अध्याय एवं खण्डों में विभक्त हैं। आचार्यों की सम्पूर्ण परम्परा आरण्यक शब्द की उत्पत्ति करते समय उसका सम्बन्ध अरण्य के साथ तो जोड़ती है, परंतु अरण्य शब्द का क्या तात्पर्य है इसका कहीं उल्लेख नहीं है। और यह बड़े आश्चर्य की बात है। अतएव केवल नाम के आधार पर आरण्यक ग्रन्थों का सम्बन्ध वन अथवा जंगल के साथ जोड़ दिया गया है।

इस विषय में आधुनिक इतिहासकारों कोषग्रन्थों एवं विद्वानों के मतों अध्ययन करने के पश्चात् जो निष्कर्ष प्राप्त हुआ है, वह पण्डित भगवद्दत्त के शब्दों में उद्धृत है-

अरण्य अर्थात् जंगल में रहकर यज्ञों के रहस्य को बताने वाली जिस

विद्या का पाठ किया जाता था वह विद्या जिन ग्रन्थों में सुरक्षित है, उन्हें आरण्यक कहते हैं।

आरण्यक ग्रन्थों की चर्चा करते हुए प्रायः यही कहा जाता है कि आरण्यकों की रचना अरण्यवासी वानप्रस्थियों के लिए हुई, जो कर्मबन्धन से मुक्त होकर मोक्ष की ओर जाना चाहते थे। इसीलिए इस साहित्य का नाम आरण्यक है। किंतु ऐतरेय आरण्यक के विषयवस्तु की समीक्षा करने पर ऐतरेय आरण्यक के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता है। ऐतरेय आरण्यक की विषयवस्तु सोमयाग यज्ञों से ही सम्बद्ध है। ये यज्ञ भौतिक सुख समृद्धि के लिए ही किए जाते थे। इनका सम्बन्ध न तो अरण्य से है और नहीं अरण्यवासियों से दृष्टिगोचर होता है। ऐतरेय आरण्यक का प्रारंभ महाव्रत के वर्णन से होता है। 'महाव्रत' सोमयाग के अन्तर्गत सम्पूर्ण वर्ष चलने वाले "गवामयन" सत्र के अंतिम से पहले दिन होने वाले एक विशेष कर्मकाण्ड का नाम है। प्रथम आरण्यक में महाव्रत में होने वाले प्रातः, माध्यन्दिन एवं सायं सवनों का वर्णन है। ऐतरेय ब्राह्मण में इस कर्म का उल्लेख मात्र है। यथा- **तददो महाव्रतीयेनाह्ना प्रजनयति।**

किन्तु यह कर्मकाण्ड कैसे एवं किन मन्त्रों से किया जाना है, इसका वर्णन नहीं है। उस सम्पूर्ण कर्मकाण्ड का वर्णन ऐतरेय आरण्यक में किया गया है। द्वितीय आरण्यक में प्राण तथा आत्मा का वर्णन है। तृतीय आरण्यक में संहिता के भेद बताए गए हैं। चतुर्थ आरण्यक में देवताओं की स्तुति के लिए पढ़ी जाने वाली ऋचाओं का संग्रह है। पंचम आरण्यक में निष्कैवल्य शस्त्र का वर्णन है। यह शस्त्र महाव्रत के माध्यन्दिन सवन में पढ़ा जाता है।

इस प्रकार ऐतरेय आरण्यक की विषयवस्तु प्रत्येक आरण्यक में स्वतंत्र ही प्रतीत होती है। इन आरण्यकों की आपस में कोई संबद्धता कहीं नहीं दिखाई पड़ती है। ऐतरेय आरण्यक एक परिशिष्ट ग्रन्थ के अधिक समीप है। जिसमें ग्रन्थकार ने ऐतरेय ब्राह्मण से सम्बन्धित विषयों को परिशिष्ट के रूप में प्रस्तुत किया है। ब्राह्मण ग्रन्थ में महाव्रत का उल्लेख मात्र करना एवं आरण्यक में उसका विस्तृत रूप प्रस्तुत करना इसे परिशिष्ट ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत करता है। मुख्य ग्रन्थों के परिशिष्ट निर्माण की वैज्ञानिक प्रक्रिया का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण आचार्य पाणिनि हैं। जिन्होंने उणादिपाठ, धातुपाठ एवं गणपाठों की रचना की। इस प्रकार ऐतरेय आरण्यक का सम्बन्ध साक्षात् यज्ञों से है। इन यज्ञों का सम्बन्ध अरण्यों से न होकर नगरों एवं ग्रामों से ही है।

पूर्व में अरण्य शब्द की चर्चा करते हुए कहा गया है कि 'अरण्य' शब्द के तात्पर्य का किसी ने उल्लेख नहीं किया है। अतएव अरण्य शब्द का सम्बन्ध जंगल एवं वनों के साथ जोड़ दिया गया। इस विषय में तैत्तिरीय आरण्यक के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है कि अरण्य का सम्बन्ध जंगल से न होकर एकांत स्थान से है। तैत्तिरीय आरण्यक में आरुणकेतुक अग्नि-चयन के अधिकारी की चर्चा प्राप्त होती है, जिसमें कहा गया है कि जो आरुणकेतुक अग्नि का चयन करना चाहता है, उसे एक वर्ष पर्यन्त अथवा दो महीने तक व्रत का अनुष्ठान करना चाहिए। इस व्रत के अनुष्ठान में तीन समय मन्त्रों का जप, तीन समय स्नान, भात एवं दुग्धपान आदि का उल्लेख है। उसी प्रसंग में आरुणकेतुक अग्नि चयन के प्रतिपादक ग्रन्थ के अध्ययन के लिए कहा गया है, कि **अरण्ये अधीयीरन्** इस वचन का भाष्य करते हुए

सायण कहते हैं इस ग्रन्थ का अध्ययन अरण्य में ही करना चाहिए न कि गांव में। परन्तु इस व्रत के अनुष्ठान पर विचार करें तो हम देखते हैं कि व्रत का अनुष्ठान अरण्य में नहीं हो रहा है। केवल प्रतिपादक ग्रन्थ के लिए अरण्य में अध्ययन की बात कही जा रही है जो सहज प्रतीत होती हैं। यहां पर अरण्य का तात्पर्य एकांत स्थान ही ज्यादा उपयुक्त प्रतीत होता है। आज भी सभी धर्म एवं संप्रदायों में इस प्रकार की परम्परा प्राप्त होती है, जहां सभी लोग एकांत स्थान पर ही मंत्र जप आदि का गठन करते हैं। सायण ने **"सोऽयं ग्रन्थोऽरण्ये एवाध्येतव्यः न तु ग्रामे"** इस वाक्य में ग्राम शब्द का उल्लेख कर अरण्य अर्थात् जंगल पर क्यों जोर दिया? यह तथ्य विचारणीय है। आरण्यक ग्रन्थों की स्थिति हमें दो रूप में उपलब्ध होती है। कुछ आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थों के अंतर्गत समाहित हैं तो कुछ आरण्यक स्वतन्त्र रूप में उपलब्ध होते हैं। पण्डित भगवद्दत्त लिखते हैं कि बृहदारण्यक शतपथ ब्राह्मण का भाग है। ऐसे ही जैमिनि आरण्यक भी जैमिनीय ब्राह्मण का भाग है। किन्तु ऐतरेय आरण्यक ऐतरेय ब्राह्मण का भाग नहीं है। वह स्वतंत्र ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध होता है।

इस बात की पूरी सम्भावना है कि प्राचीन समय में आरण्यक ब्राह्मण ग्रन्थों के अंतर्गत ब्राह्मणों के भाग के रूप में विद्यमान रहे हों। पण्डित भगवद्दत्त के अनुसार धर्मसूत्रों के काल तक आरण्यक ग्रन्थ ब्राह्मण ग्रन्थों के अंतर्गत ही माने जाते थे। उनके प्रमाण को 'इति ब्राह्मणम्' कहकर प्रस्तुत किया गया है। बौधायन धर्मसूत्र ३.७.७.१६ में तैत्तिरीय आरण्यक १.३२ के प्रमाण को इति ब्राह्मणम् कहा है। भट्ट भास्कर भी ब्राह्मणं च भवति ऐसा कहकर तैत्तिरीय आरण्यक के वचन को उद्धृत करता है।

वेदों में राष्ट्रचेतना के उदात्त विचार

डॉ० भावप्रकाश एम. गांधी[1]

विश्व के सर्वप्राचीन वाङ्मय के रूप में वेदों को प्राच्यार्वाच्य सभी विद्वान् गवेषकों ने एकस्वर से सहमति प्रदान की हुई है। हमारी सत्यसनातन भारतीय संस्कृति में प्राचीनकाल से ही वेदों को महत्वपूर्ण और गौरवशाली स्थान प्रदान करते हुए ऋषि-मुनियों ने सार्वकालिक, सार्वभौमिक, सार्वजनिक कल्याण की मूल आधारशिला स्वीकार किया है। हमारे प्राचीन मनीषियों ने वेदों को अपौरुषेय मानते हुए आप्तप्रमाण के रूप में सर्वज्ञानमय[2] सिद्ध करते हुए मनुष्य के पुरुषार्थचतुष्टय का साधक माना है। वेदों को सनातनचक्षु के रूप में महर्षि मनु स्वीकार करते हुए कहते हैं – **पितृदेवमनुष्याणां वेदश्चक्षुः सनातनः।**[3]

इन वेदरूप चक्षुओं के माध्यम से एहिक और आमुष्मिक दोनों लोकों

---

[1] **सहायकाचार्य, संस्कृत-विभाग, सरकारी विनयन तथा वाणिज्य कॉलेज – गांभोई, हिम्मतनगर, साबरकांठा**

[2] यः कश्चित् कस्यचिद् धर्मो मनुना परिकीर्तितः।
स सर्वोभिहितो वेदो सर्वज्ञानमयो हि सः॥ मनु. २.७

[3] मनुस्मृतिः- २.१०

को मनुष्य सुधार सकता है, भूत-भविष्य-वर्तमान सभी कालों को जान सकता है तथा इन्द्रियातीत अतीन्द्रिय विषयों का भी साक्षात्कार कर सकता ह। ये वेद कोई चर्मचक्षु नहीं हैं पर दिव्यज्ञानमय चक्षु हैं जिनके माध्यम से मनुष्य मनोवांछित सभी श्रेय पदार्थों की प्राप्ति कर सकता है और मनुष्य के परम चरम लक्ष्य मोक्ष को भी पा सकता है। इसीलिए महाभारतकार महर्षि वेदव्यास स्वयं सभी क्रिया और प्रवृत्तियों का मूल स्रोत वेद को मानते हैं-

अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा।
आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वा प्रवृत्तयः॥[४]

वेद में सभी प्रकार का ज्ञान निहित होने से वहां धर्म-कर्म, सभ्यता-संस्कृति, विद्या-अविद्या, ज्ञान-विज्ञान, आचार-व्यवहार, नीति-रीति, कर्तव्य-अकर्तव्य, बन्ध-मोक्ष, भौतिक-आध्यात्मिक सभी प्रकार के सिद्धान्त विद्यमान हैं। इसी क्रम में राष्ट्रीयभावना से जुडे हुए तथ्य भी वेद में यत्र तत्र सर्वत्र पाए जाते हैं। इस स्वाध्याय पत्र में राष्ट्र से संबद्ध वेदों में प्रदत्त विचारों को प्रस्तुत किया गया है।

जिस देश में राष्ट्र में मनुष्य जन्म लेता है उस राष्ट्र को माता पिता मानते हुए उस राष्ट्र की आराधना करता है, -'**जननीजन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी**' मानते हुए '**माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्याः**'[५] का डिण्डिम घोष भूमि सूक्त के माध्यम से राष्ट्रभक्त ऋषि करता है। राष्ट्रभक्त अपने राष्ट्र की उन्नति, विकास रात दिन चहुं ओर देखना या करना चाहते हैं परन्तु किस प्रकार राष्ट्र का उत्थान हो सकता है, राष्ट्र कैसा होना चाहिए, राजा,

---

[४] महाभारत शान्तिपर्व – २३२.२४

[५] अथर्व. १२.१.६२

प्रजा, सेनापति, राज्य, पशु-पक्षी कैसे हों जिससे सुसंगठित, समृद्ध, सुखमय, शान्तिरहित, भयमुक्त राष्ट्र का निर्माण हो सके ऐसे उदात्त विचार हमें वेदों में प्रचुर माला में उपलब्ध होते हैं। मनु महाराज लिखते हैं कि वेदों का ज्ञाता, वेदों का अनुशीलन करने वाला, वेदरहस्य का ज्ञाता ही शासनव्यवस्था, दण्डविधान, प्रजानेतृत्व, सेनासंचालन, समस्तलोकों के आधिपत्य करने में समर्थ हो सकता है।[६] यजुर्वेद का एक मन्त्र वैदिक राष्ट्रीय प्रार्थना के रूप में बडे सुन्दर भावों को व्यक्त कर रहा है –

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः शूर इषव्योतिव्याधि महारथो जायताम्, दोग्ध्री धेनुर्वोढानड्वानाशूः सप्तिः पुरन्धिर्योषा जिष्णू रथेष्ठाः। सभेयो युवास्य यजमानस्य वीरो जायतां निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्तां योगक्षेमो नः कल्पताम्॥[७]

इस मन्त्र का भावार्थ है हमारे राष्ट्र में ब्रह्मतेजधारी ब्राह्मण, शूरवीर राजा, महारथी अरिदलविनाशक क्षत्रिय, दूधवाली गायें, तेज दौडनेवाले अश्व, सौभाग्यशाली नारी, विजयी योद्धा, युवक सभ्य और सुशिक्षित हों तथा कालानुरूप वृष्टि और रोगविनाशक ओषधियां प्राप्त होती रहे और सभी का मंगल हो कल्याण हो। इस मन्त्र में राष्ट्र के लिए आवश्यक सभी तत्वों का समावेश कर लिया गया है। विशेषतः यजुर्वेद के दशम अध्याय में, अथर्ववेद के द्वादशकाण्डस्थ भूमिसूक्त में तथा ऋग्वेद के स्वराज्य

---

[६] सेनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥ मनु. १२.१००

[७] यजु. २२.२२

सूक्त में राष्ट्रविकास विषय में पर्याप्त सामग्री मिल जाती हैं।

वेदों में ऋषियों और मुनियों ने सतत साधना के बल पर उत्कृष्ट और सुखप्रद राष्ट्र की कामना की है –

भद्रमिच्छन्त ऋषयः स्वर्विदस्तपोदिक्षामुपनिषेदुरग्रे।
ततो राष्ट्रं बलमोजश्च जातं तदस्मै देवा उपसन्नमन्तु॥[८]

सभी का सर्वतोभद्र चाहते हुए ऋषियों ने तप और दीक्षा से राष्ट्र और बल, ओज को प्राप्त किया है। अथर्ववेद के भूमि सूक्त में राष्ट्र को धारण करने वाले महान् सत्य, उग्र ऋत, दीक्षा, तप, ब्रह्म, यज्ञ इन धारकतत्वों का आधार स्तंभ माना है।[९] इन छह धारकतत्वों के धारण करने से राष्ट्र का निश्चित विकास होता है। जिस राष्ट्र में इन तत्वों को स्थापित किया जाता है वह राष्ट्र संगठित, समृद्ध तथा पारस्परिक एकता एवं सहानुभूति से परिपूर्ण होता है। राष्ट्र की प्रजा कैसी हो इस सन्दर्भ में यजुर्वेद का एक मन्त्र कहता है – **अर्थेत स्थ**[१०] अर्थात् एक उद्देश्य को लेकर चलनेवाली प्रजा होनी चाहिए। सभी को प्रजा के लिए एक लक्ष्य एक संकल्प के साथ समवेत होकर कार्य करना आवश्यक है। पुनः कहा गया है – ओजस्वती स्थ[११] अर्थात् प्रजा ओजस्वी, हृष्ट पुष्ट बलवान् होनी चाहिए। तीसरी बात जो कही है वो है सूर्य के समान वर्चस्वी, प्रदीप्त प्रजा का होना।[१२] चौथी बात के

---

[८] यजु. १०.२६

[९] सत्यं बृहद्दतमुग्रो दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु॥ अथर्व.१२.१.१

[१०] अर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त। यजु. १०.३

[११] ओजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त। यजु. १०.३

[१२] सूर्यवर्चस स्थ। यजु. १०.४

लिए '**मान्द स्थ**'[१३], इस शब्द का प्रयोग हुआ है जिसका तात्पर्य है– राष्ट्र में रहने वाली प्रजा प्रसन्नचित्त, सुखी और आनन्दित हो। पुन: शक्वरी और शविष्ठ दो पद प्रयुक्त हुए हैं जो क्रमश: शक्तिशाली और शूरवीरता के परिचायक हैं।[१४] इस प्रकार उपर्युक्त छह गुणों से समन्वित प्रजा राष्ट्र के अभ्युदय का कारण बनती है।

यजुर्वेद के एक अन्य मन्त्र में राष्ट्र के परिप्रेक्ष्य में भी कुछ तत्वों की आवश्यकता का निर्देश हुआ है। जिसमें प्रथम और प्रमुख है – राष्ट्र का स्वराज, स्वतन्त्र और स्वाधीन होना जिससे सभी मनुष्य राजा द्वारा निर्धारित आदेशों और कर्तव्यों का सही तरह से समुचित निर्वाह कर सके।[१५] दूसरी और तीसरी बात में जनभृतस्थ और विश्वभृतस्थ दो शब्दों के माध्यम से राष्ट्र का जनकल्याणकारी और विश्वकल्याणकारी होना प्रतिपादित है।[१६] यहां वेद ही ऐसे ग्रन्थ हैं जो राष्ट्र से उपर विश्वकल्याण करने की उदात्त भावना अभिव्यक्त करते दिखाई देते हैं। विश्व के लोग राष्ट्र की ऐसी गतिविधि से भयभीत नहीं होने चाहिए जिससे पर्यावरण, मानवता, सृष्टि के अनिवार्य स्त्रोतों को हानि पहुंचे।

वेद के कथन के अनुसार वही राष्ट्र विकसित होता है जिसकी प्रजा जागृत हो, इस के लिए वह राष्ट्र के सभी मनुष्यों को जागृत रहने के लिए

---

[१३] मान्दा स्थ। यजु. १०.४

[१४] शविष्ठा स्थ, शक्वरी स्थ। यजु. १०.४

[१५] स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त। यजु.१०.४

[१६] जनभृतस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त।
विश्वभृतस्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त। यजु.१०.४

आवाहन करता है- **वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिताः।**[१७] जिस देश में जन जागृति होगी वह देश प्रगति के पथ पर सदैव अग्रेसर रहता है। साथ ही राष्ट्र के राजा को भी पर्यावरण संरक्षक होते हुए भूमि-जल-वायु आदि प्रदूषणों से राष्ट्र को बचाए रखने में तत्पर और सजग रहना चाहिए। वेद कहता है यह पृथिवी अपनी माता है इसकी कभी भी हिंसा मत करो। यथा-

पृथिवी मातर्मा मा हिंसीः। मो अहं त्वाम्[१८]

अथर्ववेद भी कहता है कि जिस भूमि से खोदते हुए आपको अन्न, सुवर्ण, रत्नादि की प्राप्ति होती है उसका रक्षण करना मनुष्य का कर्तव्य है।[१९] एक अन्य मन्त्र में कहा गया है कि जिस राष्ट्र में शासन करने वाले राजा प्रजा के हितैषी होते हैं, समाज को उन्नति के पथ पर ले जाने वाले होते हैं, समाज में धन-अन्नादि का वितरण उत्तमरीति से करते हैं, किसी वर्ण या वर्ग के साथ पक्षपात या विपरीत आचरण नहीं होता, समग्र लोक को नीति-सदाचार और न्यायपूर्वक चलाते हैं, राष्ट्र और समाज को परिपुष्ट करने हेतु निःस्वार्थभाव से प्रयत्न करते हैं उस राष्ट्र का सर्वविध उत्थान, अभ्युदय और कल्याण होता है। इस प्रकार के राष्ट्र चिरकालस्थायि बन कर अन्य राष्ट्र के समक्ष आदर्श प्रस्तुत करते हैं। जैसा कि इस मन्त्र में वेद के ऋषि कहते हैं –

त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वमिमा प्रदिशः पञ्चदेवीः।
वर्ष्मन् राष्ट्रस्य ककुदि भूयस्व ततो न उग्रो विभज्य वसूनि॥[२०]

---

[१७] यजु. ९.२३

[१८] यजु. १०.२३

[१९] यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पितम्॥ अथर्व. १२.१.३५

[२०] अथर्व. ३.४.२

राष्ट्रवादी मनुष्य न तो जात-पात, न वर्ग-वर्ण, न अमीर-गरीब और न ही उच्च नीच का भेद रखता है वह तो सभी का प्रिय होता है और सभी का प्रिय करते जाता है। यथा-

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये॥[२१]
रुचं नो धेहि ब्राह्मणेषु रुचं राजसु नस्कृधि।
रुचं विश्येषु शूद्रेषु मयि धेहि रुचारुचम्॥[२२]

वहीं राजा के प्रमुख कर्तव्यों के बारे में यजुर्वेद में स्पष्ट निर्देश है कि राजा को चार कार्य प्रजा के हितार्थ करने चाहिए – **कृष्यै त्वा, क्षेमाय त्वा, रय्यै त्वा, पोषाय त्वा**।[२३] १. कृषि की उन्नति के लिए प्रयत्न, २. जनता के योगक्षेम के लिए प्रयत्न, ३. जनता के आर्थिक विकास हेतु प्रयत्न, ४. जनता के भरण पोषण का ध्यान। इन चार कर्तव्यों को पूर्ण मनोयोग से करने वाला राजा सुश्लोक सुमंगल होता है।[२४] राजा प्रजा को अपने शरीर के अंग की तरह समझे- **विशो मेऽङ्गानि सर्वशः**[२५], राष्ट्र को अपना मेरू माने – **पृष्ठीर्मे राष्ट्रम्**[२६], राजा के दोनों हाथ पुरुषार्थ और पराक्रम हैं- **हस्तौ मे कर्म वीर्यम्**[२७]। प्रजा राजा का प्राण है और प्रजा की रक्षा करना उसका कर्तव्य है।[२८]

---

[२१] अथर्व. १९.६२.१
[२२] यजु. १८.४८
[२३] यजु. ९.२२
[२४] यजु. २०.४
[२५] यजु. २०.८
[२६] यजु. २०.८
[२७] यजु. २०.८
[२८] राजा मे प्राणाः। यजु. २०.५, विशि राजा प्रतिष्ठितः। यजु. २०.९

राष्ट्र में उत्तम शासन कैसा हो इस विषय में वेद में तीन उपाय बताए गए हैं – प्रथम तो शासन में सभा समिति के माध्यम से न्याय सत्यता से, सही तरह से और समय से होना चाहिए।[२९] दूसरा राष्ट्र का नायक सम्पूर्ण प्रजा को अपनी संतान मानते हुए सेवाभाव से प्रेमपूर्वक व्यवहार करे[३०] और तीसरा उपाय है शत्रुओं से अपने राष्ट्र की रक्षा करे।[३१] इन तीन उपायों पर अमल करने से राष्ट्र का विकास निश्चित है। ऋग्वेद के एक सूक्त का तो अन्तिम पद '**अर्चन्ननु स्वराज्यम्**' का डिण्डिम घोष करते हुए राष्ट्र आराधना करने को आदेश देता है।[३२]

इस प्रकार उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर स्पष्टरूप से कह सकते हैं कि वेदों ने राष्ट्राभिवृद्धि के लिए प्रसंगानुरूप बहुत्र ऐसी शिक्षाएं प्रदान की हैं जिस के आचरण से अनुसरण से एक आदर्श राष्ट्रनिर्माण किया जा सकता है। '**वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम**'[३३] अर्थात् हमें राष्ट्र के लिए बलिदान देने को भी उद्यत रहना चाहिए। इस प्रकार की भावना प्रत्येक राष्ट्रभक्त में हो, राष्ट्र में रहने वाला प्रत्येक नागरिक भूमि को माता तथा स्वयं को भूमि का पुत्र मानें, परस्पर '**सहृदयं साम्मनस्यम्**' मन्त्र के अनुसार द्वेषरहित होकर आत्मवत् मानते हुए प्रेमभाव से रहे, तथा राजा, पशु, पक्षी आदि

---

[२९] याः सभा अधिभूम्याम्, ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम॥ अथर्व. १२.१.५६

[३०] यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि, यदीक्षे तद् वनन्ति मा॥ अथर्व. १२.१.५८

[३१] प्रमृणीहि शत्रून्, शत्रूयतो ऽधरान् पादयस्व।
ध्रुवाय ते समितिः कल्पताम्॥ अथर्व्. ६.८८.३

[३२] ऋग्. १.८०.१

[३३] वही १२.१.६२

सभी से अभयता को प्राप्त हो जावे, '**राष्ट्रं धारयतां ध्रुवम्**'[३४] की भावना से राष्ट्रधर्म को ही सर्वश्रेष्ठ धर्म मानने लगे तो हम सम्पूर्ण राष्ट्र को ही नहीं विश्व को भी आर्य बना पाएंगे और '**कृण्वन्तो विश्वमार्यम्**' का उद्घोष एक दिन अवश्य सार्थक एवं चरितार्थ हो पाएगा।

[३४] अथर्व. ६.८८.२

गुरुकुल प्रभात आश्रम, (टीकरी) भोलाझाल, मेरठ